राधाकृष्ण से प्रकाशित
धीरेन्द्र अस्थाना का उपन्यास

समय एक शब्द भर नहीं है

मुहिम

धीरेन्द्र अस्थाना



राधाकृष्ण

1984
©
धीरेन्द्र अस्थाना

प्रथम संस्करण
सितंबर, 1984

मूल्य
25 रुपये

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन,
38 अंसारी रोड, दरियागंज,
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
शान प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-32

"मेरी वजह से कोई पौधा सूख न जाये"

—कन्हैयालाल नंदन

नंदन जी,
यह किताब
आपकी इसी भावना को
समर्पित है।

—धीरेन्द्र अस्थाना

क्रम

मुहिम

•

वह दूर से उन्हें देख रहा था।

वह रोज़ इस समय उन्हें दूर से देखा करता था। ड्राइवर गेट के बाहर गाड़ी खड़ी करता था और कोयल की कूक जैसा हॉर्न दो बार वजाता था। हॉर्न बजने के थोड़ी देर बाद वे दोनों बाहर आते थे। पीछे-पीछे एक नौकर उनके छोटे-छोटे खूबसूरत-से चमड़े की अटैची जैसे वैग लेकर आता था, और ड्राइवर कार का दरवाज़ा खोल देता था। वे एक-एक करके कार की पिछली सीट पर बैठ जाते थे, और ड्राइवर दरवाज़ा बंद करके अपनी सीट पर जम जाता था। उनके साथ वाला नौकर उनके वस्तों समेत ड्राइवर के बग़ल वाली सीट पर बैठ जाता था, और तब एक हॉर्न और वजता था और इसके वाद कार फर्राटे भरती हुई कोठी से बाहर चली जाती थी।

पीछे छूटी हुई कार की आवाज़ और उनके कपड़ों से आती वेहद अच्छी खुशबू को संभालता हुआ वह बहुत देर तक खड़ा रहता था। गुमसुम। अवाक।

वह सात साल का था जवसे उसने चीज़ों को देखना और जानना शुरू किया। सात साल से पहले की वातें याद करने पर भी याद नहीं आतीं। पैदा होने से सात साल तक का होने के दौरान वह क्या-क्या करता था, क्या सोचता था और क्या देखता था—ये वातें किसी ने उसके सामने दोहरायीं भी नहीं। न माँ ने, न बावू ने। इसलिए वह कुछ नहीं जानता, सिवा इसके कि इस कोठी के अँधेरे-तंग गैरेज में वह जन्मा था और सात वर्ष के वाद शुरू हुआ था, जब चीज़ों को उसने स्वयं जानना-,

पहचानना आरंभ किया था। अब वह दस वर्ष का है— उसे मालूम है। उसने अपनी उमर का हिसाब खुद रखना शुरू कर दिया है। वह जानता है जब गरमियों के दिनों में इस कोठी के सामने वाले फूलों के बड़े बगीचे में शाम के समय बहुत सारे अच्छे-अच्छे बच्चे इकट्ठे होकर गुब्बारे फोड़ते हैं और बहुत सारी कारें कोठी के बाहर जमा हो जाती हैं और कोठी के उन दोनों बच्चों के चारों तरफ़ अजीब-अजीब-से खूबसूरत खिलौनों, कपड़ों और फूलों का ढेर लग जाता है, और सारे लोग सधी हुई आवाज़ में तालियाँ बजाते हैं, और बहुत सारे नौकर भाग-भाग कर लोगों को खाने-पीने का तरह-तरह का सामान पकड़ाते हैं, और जिस रात उसकी अपनी माँ खिचड़ी की थाली में एक तरफ़ उसके लिए बरफ़ी, लड्डू और काले रसगुल्ले का आधा टुकड़ा रखती है, और जिस रात उसके बाबू उसे नैकर-कमीज़ का एक जोड़ा देते हैं और सबसे अंत में जब वह गुस्से में काँपता हुआ और अपने भीतर की तेज़ रुलाई पर क़ाबू पाता हुआ, नैकर-कमीज़ के जोड़े और बरफ़ी, लड्डू, रसगुल्ले को उठा कर ज़ोर से फेंक देता है, तब उसकी उमर का एक साल पूरा हो जाता है।

"कालू, तू आठ बरस का हो गया रे!" बाबू उत्साह में भरकर कहते थे, "कालू, तू नौ बरस का हो गया रे! कालू, तू दस बरस का...!"

"हाँ," वह हर बार कहता था, "पर खुशी तो कोठी में मनायी गयी।"

"साहब के दो बच्चे भी आज ही पैदा हुए थे रे! जुड़वाँ बच्चे।"

"नहीं चाहिए ये नैकर-कमीज़," वह गुस्से में अंधा हो जाता था, पता नहीं क्यों, "मैं कोई भिखारी हूँ जो उतरे हुए कपड़े पहनूँगा!" वह मुँह फुला कर बिना खाना खाये सो जाता था।

वह जानता है, बाबू ने उसके द्वारा ठुकरा दिये गये कपड़े कभी भी साहब को वापस नहीं लौटाये, बल्कि उन्हें तहाकर बक्स में रख दिया। कई बार माँ ने पूछा कि इन कपड़ों को देकर कोई रबड़ की बाल्टी या काँच की कटोरियाँ ले ले क्या?

"नहीं, नहीं, पागल है क्या!" बाबू सहम जाते थे, "साहब को पता चल गया कि हमने उनके द्वारा दिये गये कपड़ों का इस प्रकार अपमान

किया है तो एक मिनट में इस कोठी और नौकरी दोनों से अलग कर देंगे। हमारे अन्नदाता हैं वो।"

सात साल से दस साल के इतने लंबे समय में उसने लगातार एक ही बात सोची है कि इस कोठी में रहना अच्छा नहीं है। कितना अधिक ख़ाली और अकेला रहता है वह यहाँ। फूलों वाले बगीचे के पास भी जाने को उसे बाबू ने मना किया हुआ है, और कोठी के बाहर निकलने को माँ ने। उसके हिस्से में या तो वही अंधा गैरेज है या गैरेज के सामने वाला छोटा-सा अहाता जो बिलकुल उसी की तरह अकेला है। अकेला और ख़ाली। कोठी के दरवाज़े पर तो चौबीसों घंटे चौकीदार बैठा रहता है, इसलिए वह दरवाज़े से बाहर चला जाये, यह तो संभव ही नहीं है। एक बार वह माँ की नज़र बचाकर गैरेज के पिछवाड़े वाली कोठी की दीवार लाँघकर बाहर निकल आया था, मगर थोड़ी देर बाद ऊब कर वापस आ गया था। बाहर भी उसके मतलब का कुछ नहीं था। बाहर एक लंबी-सुनसान सड़क थी, और सड़क के किनारे ऊँचे-ऊँचे पेड़। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर कोठी की तरह की और भी कई कोठियाँ बनी हुई थीं। बिलकुल चुप, उजाड़ और मनहूस-सी कोठियाँ। वह लंबी-मनहूस सड़क पर दूर तक चलता चला गया था, मगर काफ़ी चलने के बाद भी उसे न बाज़ार दिखायी पड़ा था और न ही कुछ और। सड़क पर हाँफता कोई कुत्ता तक नहीं। वह वापस लौट आया था और सड़क को पार करके पेड़ों के बाग में कुछ दूर चलने पर उसे एक पेड़ के नीचे एक खाट बिछी दिखी थी और वह खाट के नज़दीक चला गया था। खाट पर एक बूढ़ा-सा आदमी बैठा हुआ बीड़ी फूंक रहा था, और बीच-बीच में चिल्ला-चिल्ला कर और खाट से टिकी लाठी को पेड़ के तने पर मार-मार कर पक्षियों को भगा रहा था।

"ये काहे के पेड़ हैं ?" उसने पूछा था।

"आम के, अमरूद के और लीची के।" बूढ़े ने उसे बताया था, "ये सारे फल पक जाने के बाद बड़े-बड़े ट्रकों में भर कर दूसरे शहरों में और इस शहर में बिकने जाते हैं। इन बागों के मालिक इस इलाके की पीली कोठी के मालिक हैं।"

पीली कोठी। उसने सोचा था। जिस कोठी में वह रहता है। पीली

कोठी के मालिक जो उसके बाबू के अन्नदाता हैं और पीली कोठी के बच्चे। उसने याद किया था, फिर वह ऊब गया था। यहाँ भी वह कोठी है और उसी कोठी की बातें हैं। वह कोठी की यादों की हद से बाहर जाना चाहता है। ऐसी जगह जहाँ उसकी तरह के बच्चे हों और उनकी तरह की इच्छाएँ और सपने।

"यहाँ बाज़ार नहीं है?" उसने पूछा था।

"बाज़ार यहाँ कहाँ से आया?" बूढ़ा उसके भोलेपन पर हँसा था, "इन पेड़ों को बहुत दूर तक पार करने के बाद जो इलाक़ा आता है, वहाँ है बाज़ार और घर और बस्तियाँ। यह तो साहब लोगों का इलाक़ा है।"

"हूं।" उसने हुंकारा भरा और सवाल किया था, "क्या वह यहाँ रोज़ आ सकता है?"

"नहीं," बूढ़े ने नपा-तुला उत्तर दिया था, "साहब को पता चल गया कि यहाँ बच्चे आते हैं, तो मुझे नौकरी से निकाल दिया जायेगा और मैं बुढ़ापे में दर-दर नहीं भटकना चाहता।"

"हूं," उसने कहा था और वापस आते हुए सोचा था कि हर आदमी साहब से कितना डरा हुआ है! यह बूढ़ा, उसके बाबू, कोठी के नौकर और बच्चों की गाड़ी का ड्राइवर। वह डरे हुए लोगों की ज़मीन से बाहर जाना चाहता है, ऐसी जगह जहाँ कोई डर न हो, जहाँ उसकी तरह के बच्चे खुश-खुश होकर खेलते-कूदते और हँसते हुए अपनी उमर के साल पूरे करें। उसकी तरह जन्म-दिन वाली रात किलस-किलस कर और तेज़ गुस्से में काँपते हुए न सोचें कि यह हुआ नवाँ साल पूरा, यह आया दसवाँ बरस। एक बार उसने बाबू से कहा था, "मैं यहाँ नहीं रहना चाहता। यहाँ मैं कितना अकेला हूँ! माँ को अपनी बीमारी और काम से फुरसत नहीं है और तुम सुबह जाकर शाम को लौटते हो।" "ये तो साहब का रहम है बेटे, हम यहाँ रहते हैं, इतने अच्छे इलाक़े में और वह भी मुफ़्त।" बाबू ने कारण बताया था, "अगर यह जगह छिन जाये तो किसी सड़े हुए नाले के किनारे मच्छरों, सुअरों और खुजली वाले कुत्तों के साथ कच्ची झोंपड़ी में रहना पड़ेगा या फिर सड़क के किनारे तंबू गाड़ कर। किराये के मकान रहने की औक़ात है भला हमारी?"

"वहाँ बच्चे तो होंगे न ? मेरी तरह के बच्चे।" उसने जवाब दिया था, "और बाज़ार भी होगा, और बातें करने के लिए लोग भी।"

"तू पागल है क्या वे ?" बाबू ने उसे झिड़क दिया था, "पता नहीं, क्या-क्या सोचता रहता है ? चल अपना काम कर, दिमाग़ मत चाट।"

अपना क्या काम करे वह ? उसने सोचा था। उसके पास तो पूरा दिन कुछ भी करने के लिए नहीं है, सिवा सोचते रहने के और सोचना भी ऐसा कि जो कोठी से शुरू होकर कोठी पर ख़त्म होता है। पिछले दो-तीन बरसों तक उसने कोठी के सिवा और सोचा भी क्या है ? इतने सारे सवाल उसके पास इकट्ठा हो गये हैं कि कोई उनका जवाब देना शुरू करे तो तीन-चार दिन तो लग ही जायें। मगर यहाँ उसके सवालों का जवाब भी कौन देगा ? बाबू का कोई ठिकाना ही नहीं है। वे सुबह सात बजे अपनी साइकिल पर चढ़कर जाते हैं तब तक वह सोकर भी नहीं उठा होता और रात को दस-साढ़े दस बजे वापस लौटते हैं, तब तक वह सो चुका होता है। इस कोठी वाले साहब के दो दफ़तर हैं, उसे बस इतना पता है कि उनमें से एक दफ़तर में उसके बाबू चपरासी हैं और उन्हें सुबह आठ बजे पहुँच कर दफ़तर का ताला खोलना होता है और दफ़तर की सारी मेज़ों, कुरसियों को दफ़तर शुरू होने से पहले झाड़-पोंछ कर चमका देना होता है। एक शब्दऔर भी जानता है—ओवरटैम। जिसका मतलब है रात साढ़े-नौ, दस बजे तक काम करने वाले बाबू लोगों के जाने के बाद फिर से ताला बंद करके तब घर लौटना। इस ओवरटैम के बदले में ही साहब ने उसके बाबू को अपनी कोठी का यह फ़ालतू और कोने वाला गैरेज रहने के लिए दिया है।

बाबू से पूछने के लिए उसने बहुत सारे सवाल जमा कर रखे थे। जैसे यही कि साहब की बात तो ठीक है वे काम पर जाते हैं, पर उनके वे दोनों बच्चे रोज़-रोज़ कहाँ जाते हैं ? उसके जितने ही तो हैं, इतने छोटे बच्चे भला क्या करते होंगे, वह तो कोई काम नहीं करता। एक बहुत ज़रूरी बात उसे बाबू से यह भी पूछनी थी कि साहब ने इतनी बड़ी कोठी क्यों बनायी हुई है ? इतने बड़े घर का वे तीन-चार लोग क्या करते होंगे भला, और साहब ने चार गाड़ियाँ क्यों ली हुई हैं ? चारों गाड़ियों में एक

साथ तो बैठा नहीं जा सकता।

एक बार उसने माँ से पूछा था, पर माँ तो बिलकुल ही पागल है, उसे कुछ पता ही नहीं है। इतने सालों से यहाँ रहती है, पर उन लोगों के बारे में कुछ जानती ही नहीं है। हर बात में कह देती है, "पता नहीं, बाबू से पूछना।" अरे, बाबू से तो मैं पूछ ही लूंगा, पर तुझे भी कुछ पता है या नहीं ? ऐसी भी कोई माँ होती है जिसे इतना भी न पता हो कि उन बच्चों के कपड़ों से इतनी अच्छी खुशबू काहे की आती है, या जिस फूलों वाले बगीचे में शाम को वे बच्चे तरह-तरह के खेल खेलते रहते हैं, उस बगीचे का एक फूल वह क्यों नहीं ला सकता ? या फिर माँ यही बता दे कि साहब की शक्ल तो उसे इसलिए नहीं दिखायी देती, क्योंकि काम पर जाते हैं, पर कोठी वाले बच्चों की माँ रोजाना शाम को कार में बैठकर कहाँ चली जाती है ? और तो और, माँ को तो यह भी नहीं पता कि उसे अभी और कितने दिन तक इस कोठी में चुपचाप सोचते हुए रहना पड़ेगा, उसकी उमर के कितने बरस और अभी यहीं कटेंगे ? गुमसुम, अकेले और सवालों से भरे हुए, नुकीले बरस।

ज्यादा सवाल करो तो माँ रोने लगती है। वह तो तंग आ गया है माँ से। अरे भाई, ठीक है, तुमको कुछ पता नहीं है तो कोई बात नहीं, पर इसमें रोने की क्या बात है ? वह तो इतने सारे और कठिन सवालों से घिरा रहता है दिन-रात, फिर भी रोता नहीं है। सारे सवालों का एक ही जवाब है माँ के पास। रोने लगेगी और दुखी होकर कहेगी—"वे बड़े लोग हैं कालू, उनकी बात ही दूसरी है।"

लो बोलो भला। यह भी कोई जवाब हुआ जिसने दो-चार सवाल और पैदा कर दिये ? बड़े लोग क्यों हैं ? बड़े लोग कैसे बनते हैं ? लोग बड़े और छोटों में कैसे बदल जाते हैं, भला ? और हाँ, सबसे ज़रूरी सवाल तो छूट ही गया। एक बार माँ ने बताया था कि उनके पास बहुत पैसा है। इतना कि पाँच बक्सों में भर लो, और पैसे से सब-कुछ खरीदा जा सकता है। जो सब-कुछ खरीद सके वह बड़ा आदमी और जो कुछ भी न ख़रीद सके वह छोटा आदमी—माँ ने बताया था। पर माँ ने यह नहीं बताया कि इतना पैसा आता कहाँ से है ? कैसे बताती ? उसे पता नहीं है।

उसके पूछने पर बहुत सोचकर बोली थी, "बहुत काम करना पड़ता है, इसके लिए।"

चल पागल ! उसने मन-ही-मन माँ को झिड़क दिया था। बहुत काम करने से बड़ा आदमी बना जाता तो उसके बाबू भी बड़े आदमी होते और जन्म-दिन की रात को बाजार से खरीदे हुए कपड़े और मिठाइयाँ लाकर उसे देते। साहब के बच्चों की जूठन और उतरन नहीं। माँ के मत्थे लगना बेकार है, उसने सोचा था और तय किया था कि एक-न-एक दिन वह ये सारी बातें बाबू से ज़रूर पूछेगा, भले ही उसके लिए उसे रात-भर जाग-कर बाबू का इंतज़ार करना पड़े। और एक रोज़ उसे मौक़ा मिल ही गया। वह पूरी दोपहर सोता रहा, ताकि रात को नींद तंग न करे। उसे जागा देखकर बाबू ने उसे अपने पास बुलाकर लिटा लिया, बस वह शुरू हो गया।

"बाबू !"

"हूं।"

"बाबू, ये कोठी वाले बच्चे रोज़ सुबह गाड़ी में बैठकर कहाँ जाते हैं ?"

"पढ़ने जाते हैं। क्यों ?"

"पढ़कर क्या होता है, बाबू ?"

"पढ़-लिख कर ये हमारे साहब की तरह बड़े आदमी बनेंगे।" बाबू ने गर्व से बताया था।

"हाँ, यही तो मैं जानना चाहता था। बाबू, मुझे भी पढ़ने भेजा करो न ! मैं भी बड़ा आदमी बनूँगा।"

बाबू का दिल दरक गया। अपने लड़के का सिर थपथपाते हुए वह उखड़ी आवाज़ में बोले, "हम छोटे लोग हैं बेटे, छोटे लोग कभी भी बड़े नहीं बनते।"

"पढ़-लिखकर तो बनते हैं न !" उसने आश्चर्य से पूछा, "अभी तो तुमने कहा था कि पढ़कर बड़े आदमी बनते हैं।"

"बड़े आदमी बनने वाली पढ़ाई भी बहुतबड़ी होती है, कालू! हमारी इतनी सामर्थ कहाँ ?" बाबू उदास हो गये, "तू सो जा, बेटे ! पता नहीं,

क्या-क्या सोचता रहता है !"

"लेकिन फूलों वाले वगीचे में तो मैं एक वार ज़रूर जाऊँगा।" उसने ज़िद में आकर कहा, "और अगर उन दोनों ने मुझे भगा दिया तो एक रात मैं सारे फूल तोड़ दूंगा।"

"ख़बरदार !" वावू ने उसे डाँट दिया, "ऐसी वात सोचना भी मत। वे लोग तुझे पुलिस से पकड़वा देंगे और मुझसे यह कोठी छीन लेंगे।"

"पुलिस !" वह डर गया, "पुलिस क्या होती है ?"

"पुलिस वहुत ख़तरनाक होती है, राक्षसों जैसी।" वावू ने उसे डराया, "जो वड़े लोगों को तंग करता है उसे पुलिस पकड़ लेती है, और मार-मार कर हड्डियाँ तोड़ देती है।"

वह भीतर तक डर गया। फिर वह दुवककर वावू की वग़ल में लेट गया और न चाहते हुए भी सो गया।

दवे पाँव वह फूलों वाले वगीचे में घुसा। चारों तरफ़ सन्नाटा है और रात है। वह वगीचे के चारों ओर लगे फूलों को नोच-नोच कर फेंक देगा, ताकि सुवह जव वे सोकर उठें तो वरवाद वगीचा देखकर उन्हें पता चले कि जिन वच्चों को फूल छूने भी नहीं दिये जाते उनके दिलों में कैसा दर्द उठता होगा ! वह एक फूल को तोड़ने के लिए हाथ वढ़ाता है, तभी पूरा मैदान रोशनी से जगर-मगर हो जाता है और वह चारों तरफ़ से घिर जाता है। पत्थर की स्याह मूर्तियों जैसे वड़े-वड़े-लंवे-चौड़े लोग हाथों में कोड़े लेकर उसकी तरफ़ वढ़ने लगते हैं। 'पुलिस' वह सोचता है और डर जाता है।

"इसकी हड्डियाँ तोड़ दो !" दोनों वच्चे पुलिस को आदेश देते हैं और उनके आदेश के तुरंत वाद ही वड़े-वड़े कोड़े सटासट उसके वदन की खाल खींचना शुरू कर देते हैं।

वह चीख़कर जाग पड़ता है और अँधेरे में आँखें फाड़कर देखता है कि कहीं कोई नहीं है। उसने ख़्वाव देखा था।

चेहरे पर आ गये पसीने को पोंछते हुए उसने सोचा, वड़े लोगों की कोठी में ख़ाली हाथ रहना वहुत ख़तरनाक वात है। अगर कभी पुलिस सचमुच आकर उसे पीटने लगी तो ? उसे याद आया, पिछले महीने ही

बाबू को साहब ने नया चाकू लेकर दिया है। बाबू सुनसान रास्ते पर भरी रात में अकेले लौटते हैं और चाबी साथ लाते हैं, इसीलिए। पर बाबू ने अभी तक नया चाकू ले जाना शुरू नहीं किया है। वे पुराना चाकू ही अपने साथ रखते हैं, नया चाकू उन्होंने बक्स में रख दिया है।

वह आहिस्ता से खाट से उतरा। बाबू बेहोश सो रहे थे और माँ भी। उसके इतनी जोर से चीख पड़ने पर भी कोई नहीं जागा था। आँखें अब तक अँधेरे की आदी हो गयी थीं। वह संभल-संभल कर आगे सरका और बक्स वाले कोने में गुम हो गया। वापसी पर उसके हाथ में तेज़ चाकू चमक रहा था।

अब ठीक है, उसने सोचा—अगर जो कभी भी पुलिस ने उसे पकड़ा तो वह पेट में चाकू उतार देगा। उसने आश्वस्ति की मुद्रा में गरदन हिलायी और चाकू को कमीज़ के नीचे वाली बनियान की बड़ी जेब में रखकर बाबू की बग़ल में आकर लेट गया।

वह दूर से उन्हें देख रहा था।

वे अपने फूलों वाले बड़े-से बगीचे में छोटी-छोटी खूबसूरत-सी साइकिलें चला रहे थे। कुछ ही देर पहले उनकी माँ कार में बैठकर रोज़ की तरह चली गयी थी। साहब तो पहले ही नहीं थे। वे रात को लौटते थे, इतनी बड़ी कोठरी में सिर्फ़ वही दो बच्चे थे। दूर कोठी के दरवाज़े पर चौकीदार बैठा बीड़ी फूँक रहा था। इन बच्चों को पुलिस से डर नहीं लगता, उसने सोचा—कैसे मज़े में साइकिलें चला रहे हैं! फिर तत्काल ही उसे सपने की याद आयी और उसने सोचा—ये साले काहे को डरेंगे? पुलिस तो इनका ही कहना मानती है।

वह थोड़ा और नज़दीक जाकर उन्हें देखने लगा। क्या इनसे एक फूल माँग कर देखे? उसने सोचा, क्या पता दे ही दें? जब उसने देखा कि लड़कों का ध्यान उसकी तरफ़ नहीं है तो वह फूलों वाले बगीचे के एकदम पास चला गया और उन्हें देखने लगा।

अचानक उसके चेहरे पर खुशी दौड़ने लगी। साइकिल तो वह भी चला सकता है—उसने सोचा—पर बाबू की साइकिल तो बहुत बड़ी है,

फिर वे उसे अपने साथ भी तो ले जाते हैं। वह निराश हो गया।

धत् साली ज़िंदगी ! उसने वयस्क आदमी की तरह सोचा और बच्चों का खेल देखने लगा। वे साइकिल चलाना बन्द कर चुके थे और उसे घूर रहे थे। उसने देखा, वे हाथ के इशारे से उसे भीतर बुला रहे हैं। वह अचानक बेइंतहा ख़ुशी से घिर गया। ये दोस्ती करना चाहते हैं शायद, उसने सोचा, इनसे बात करने वाला भी तो कोई नहीं है। वह मुसकरा पड़ा। वे भी मुसकराये। वह खुशी से हुलसता हुआ बगीचे में घुस गया। कैसी बढ़िया घास है और कितना सुन्दर बगीचा है ! इस बगीचे के भीतर आने के लिए ही तो तरसता रहा है वह।

वे फिर से अपनी-अपनी साइकिलों पर चढ़ गये थे और उसके चारों तरफ़ गोल-गोल घूमने लगे थे। वह बीच बगीचे में आकर ठहर गया था और मुसकराता हुआ उन्हें साइकिल चलाता देख रहा था। उसने कल्पना की कि वह भी साइकिल पर बैठा तेज़-तेज़ पैडल मारता हुआ कोठी के बाहर वाली सूनी सड़क पार करता हुआ भागा जा रहा है। उसके बाल हवा में फर-फर उड़ रहे हैं और शहर की घनी बस्तियाँ तथा बाज़ार दूर से दिखायी देने लगे हैं। हो सकता है कि ज़्यादा दोस्ती हो जाने पर वे उसे भी साइकिल चलाना सिखा दें — उसने सोचा।

अचानक वह हक्का-बक्का रह गया और घबराकर तेज़ी से एक तरफ़ भाग कर बच गया। एक लड़के की साइकिल उसे छूती हुई-सी गुज़र गयी। साइकिल पर सवार लड़का प्रसन्नता के आवेग में चीखा और तभी दूसरे लड़के की साइकिल ने उसे ज़ोरों से टक्कर मार दी। धोखा ! उसने सोचा और धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ा। साइकिल का पहिया उसके पेट में लगा था। और अचानक चोट पड़ने से बनियान की जेब में रखे चाकू की नोक उसे चुभ गयी थी। वह कपड़े झटकता हुआ खड़ा ही हुआ था कि पीछे से आती पहले लड़के की साइकिल की चोट ने उसे मुँह के बल फिर गिरा दिया। वह मुँह और घुटनों के बल ज़मीन पर गिरा था, इसलिए चाकू की नोक से तो बच गया, मगर होंठ कट गये और खून बहने लगा। उसने गुस्से से सुलगती आँखें उठाकर देखा, दोनों लड़के खुशी से झूम रहे थे और उसके उठने की प्रतीक्षा में चौकन्ने खड़े थे। किसी भी क्षण साइ-

किल चलाने के लिए तैयार। वह खून पोंछता हुआ खड़ा हुआ कि तभी दोनों साइकिलें एक साथ फिर उससे आ टकरायीं और वह फिर ज़मीन पर लुढ़क गया। एक साइकिल उसके पैरों पर से गुज़रती हुई आगे बढ़ गयी। वह दर्द से चीख़ पड़ा और ज़मीन पर औंधा पलट गया। दोनों लड़के अपनी साइकिलों से उतरकर उसके नज़दीक आ गये थे और उसे कराहता और तड़पता देख तालियाँ पीट-पीट कर खिलखिला रहे थे। चोट, दर्द और अपमान से उसका काला चेहरा और भी विकृत हो गया और अपनी असहायता पर उसके भीतर रुलाई उमड़ने लगी।

चाकू ! अचानक उसके दिमाग़ में बिजली-सी चमकी। उसने बनियान की जेब में हाथ डालकर चाकू निकाला और खून थूकता हुआ चीते की तरह दोनों पर झपट पड़ा।

वे सन्न रह गये। चाकू देखकर उनकी घिग्घी बँध गयी और वे तेज़ी से भागे, मगर उसने लपककर एक लड़के को पकड़ ही लिया और झटका देकर ज़मीन पर गिरा दिया। गुस्से और नफ़रत से उसकी आँखें जल रहीं थीं। उसने एक मिनट के लिए भी कुछ नहीं सोचा। बस, चाकू को ऊपर किया और झटके से लड़के के पेट में घोंप दिया। पुलिस ! उसने सोचा और तड़पते हुए लड़के के पेट से चाकू निकालकर फिर बनियान की जेब में डाल लिया। उसने देखा, दूसरा लड़का भागता हुआ बगीचे का गेट पार कर गया था और कोठी की तरफ़ मुड़ गया था। वह तेज़ी से खड़ा हुआ और भागता हुआ बगीचे के बाहर आ गया। फिर उसने एक नज़र कोठी के गेट पर डाली जहाँ चौकीदार बेख़बर बैठा था। वह भागता हुआ अपने घर की पिछवाड़े वाली कोठी की नीची दीवार फलाँग कर सड़क पर उतर आया और सड़क पार करके पेड़ों वाले बाग में घुसता चला गया।

उसकी साँस चढ़ गयी थी और दिल ज़ोरों से धड़क रहा था, मगर वह उसी रफ़्तार से दौड़ता हुआ पेड़ों का बाग़ पार करता जा रहा था।

बस्ती की तलाश में।

पतन-बोध

छिपकली एकदम निष्प्राण-सी थी। पर उसकी आँखें एकदम चौकन्नी थीं और पूरा शरीर एक सतर्क तनाव में ऐंठा-ऐंठा-सा था, मानो इसी मुद्रा में अचानक उसकी हृदय-गति रुक गयी हो। फिर वह बिजली की-सी गति से झपटी और दूसरे ही क्षण पतंगा उसके मुँह के भीतर था।

यह है जीवन ? वह हँसा और गंभीर हो गया। तभी ट्यूब-लाइट की ओर उठी उसकी नज़र फिसली और वह सामने देखने लगा, जहाँ दरवाजे पर पड़े परदे के पीछे अभी-अभी कोई छुपा था।

कौन ? वह बिस्तर पर पड़े-पड़े उठंगा हो गया। उधर से कोई आवाज़ न आने पर उसने यूँ ही घड़ी पर नज़र डाली—आठ बजने को थे। वह उठा। दरवाज़े तक गया। परदा उठाया। परदे के पार सूना बरामदा था। कोई आहट तक नहीं, बरामदे के अन्त में बना दरवाजा बन्द था। उसके अन्दर एक नामालूम-सा भय पैदा होने को हुआ। कोई था तो ज़रूर, कोई आकृति अचानक परदे की ओट में गयी थी। पर कौन ? और जब दरवाजा बन्द है तो कोई भी कैसे और कहाँ से आ सकता था ? तो फिर ?

भ्रम—उसने सोचा और पुनः बिस्तर पर आ गया। सविता की ट्रेन इस वक़्त कहाँ होगी ? शायद आगरा कैंट पर खड़ी होगी। यह भी संभव है कि आगरा क्रॉस कर लिया हो। बिना रिज़र्वेशन के जाना पड़ा उसे। साथ में दो बच्चे। कैसे कटेगा उसका रास्ता ? दिल्ली से बंबई तक का लम्बा रास्ता। सरदियों के दिनों में दो बच्चों और एक भारी अटैची के साथ बिना किसी निश्चित सीट या बर्थ के। सविता को इस तरह जाने देकर उसने अमानवीय कार्य तो नहीं कर दिया कहीं, उसने सोचा और बेचैनी में

बिस्तर से उठकर चहलक़दमी करने लगा। वह क्या करता? उसने अपने बेचैन मन को दिलासा देने के लिए एक तर्क को उठाकर खड़ा किया। वह क्या करता? वह दफ़्तर में था। "कम सून, फ़ादर सीरियस" का हावड़तोड़ संदेश लेकर दोपहर एक बजे तार घर पहुँचा और तीन बजे सविता का स्कूटर एक अटैची और दो बच्चों के साथ उसके दफ़्तर के बाहर रुका। उसने सविता को कहा नहीं था क्या कि 'जैसे तुम्हारे फ़ादर वैसे ही बल्कि उससे भी ज्यादा वो मेरे फ़ादर हैं, आज रिज़र्वेशन की कोशिश करते हैं और छुट्टी की एप्लीकेशन देते हैं। दो-तीन रोज़ में ज्यादा गड़बड़ी नहीं होगी, कि वह तुरंत तो किसी भी क़ीमत पर नहीं चल सकता। जब तक उसकी सीट पर उसका विकल्प आकर नहीं बैठ जाता वह दफ़्तर से अनुपस्थित नहीं हो सकता, कि वह विदाउट पे लीव तो ले सकता है, लेकिन इस तरह अचानक चले जाने से यह पक्की होने जा रही नौकरी पक्की होने के बजाय छूट भी सकती है, कि पैसों का बंदोबस्त भी तो करना होगा।' पर सविता ने एक भी कहाँ सुनी थी? उसे हर तर्क बेहूदा लगता रहा और अंततः वह अकेली ही चली गयी। यह कहकर कि 'तुम आओ, मैं चलती हूँ।'

और वह कुछ नहीं कर सका, सिवा इसके कि सविता को ठसाठस भरी फ्रंटियर में सामान की तरह ठूँस आया और खिड़की से झाँक कर बार-बार बोलता रहा कि 'अपना ध्यान रखना। बच्चों का ध्यान रखना। चिंता न करना, मैं पहुँच रहा हूँ। पानी वगैरह किसी से मँगा लेना रास्ते में, खुद न उतरना। खाना तो रख लिया है न? नहीं रखा, अरे! ऐसा करना कि पूरी वगैरह मत खाना। फल वगैरह ही ले लेना। पैसे तो हैं न! बीस ही रुपये हैं। अच्छा यह लो, तीस और ले लो। मेरी चिंता न करो, मुझे तो जुगाड़ करना ही है। ऐसा करना कि बोरीवली उतर जाना और वहाँ से टैक्सी पर अँधेरी जाना, अच्छा बाय!'

बकवास सब बकवास है। यह एक मज़बूत, स्पष्ट और निसंकोच आवाज़ थी, जिसे सुन वह हतप्रभ रह गया। नहीं, यह भ्रम नहीं हो सकता, उसने एकदम स्पष्ट सुना है। उसने चकराकर पूरा कमरा तलाश डाला, पर सब कोने सुनसान थे।

आख़िर तुम किसे धोखा देना चाहते हो? अपने आपको न! पर

ऐसा कभी नहीं हुआ। अपने-आपको धोखा देना ज़्यादा नहीं चल पाता, क्योंकि इस तरह के धोखे की उम्र बेहद कम होती है, फिर यह ख़तरनाक भी है, ठीक कैंसर के रोग की तरह जिसका पता एकदम शुरू में नहीं चलता और जब चलता है तो रोग बढ़ चुका होता है। यह ऐसा रोग है जिससे बचकर भागने का मतलब मौत की तरफ़ क़दम बढ़ाने जैसा है। तुम सुन रहे हो न ? मेरी आवाज़ तुम तक पहुँच तो रही होगी।

"हाँ," उसने गरदन का पसीना पोंछते और बुदबुदाते हुए कहा, "पर तुम, तुम कौन हो ?"

तभी परदा हटा और एक अस्पष्ट-सी आकृति ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा, "मैंने कई बार तुम तक पहुँचने की कोशिश की, पर तुमने अपने चारों ओर झूठी चमक और व्यस्तता का जो कवच मढ़ रखा है उनसे टकराकर मैं लौट-लौट जाता रहा। दरअसल, मेरा आना तभी मुमकिन है जब आदमी मानसिक रूप से अकेला हो। मुझे यह मौक़ा आज मिला है, क्योंकि आज तुम अकेले भी हो और अपने नये धोखे के लिए कमज़ोर तर्क भी गढ़ रहे हो।"

मतलब ? वह 'धम्म' से बिस्तर पर बैठ गया। आकृति पूरे कमरे में चहलक़दमी करती रही। वह आकृति को एकटक ताक रहा था। आकृति की शक्ल उससे मिलती-जुलती-सी थी, उसने याद किया कि आज से क़रीब दस वर्ष पहले उसका जो चेहरा था, आकृति की शक्ल हू-ब-हू वही थी।

मतलब यह कि तुम पतन के ऐसे कगार पर खड़े हो जहाँ से कोई रास्ता वापस नहीं आता। तुम्हें नीचे ही गिरना है और इसका सुबूत तुमने आज दे दिया। तुमने अपनी पत्नी को अकेले भेजकर आज अपना पाँच बरस पुराना बदला चुकाया है। पाँच बरस पहले अपने पहले लड़के के जन्म का समाचार तुमने बंबई भेजा था और सविता के माँ-बाप को आमंत्रित किया था, यह सोचकर कि बच्चे का आगमन उनका क्रोध धो डालेगा, पर इससे उनकी नाराज़गी में कोई कमी नहीं आयी थी। उधर से कोई रेस्पांस न मिलने पर तुम क्रोध में जल उठे थे। क्यों ? वह क्या था हारे भीतर जो चाहता था कि सविता के माँ-बाप के साथ संबंध मधुर

हो जायें ? तुम ऊपर से विरोध और उपेक्षा जता-जताकर भीतर-ही-भीतर यह अपेक्षा क्यों पाले रहे कि उन लोगों की मर्ज़ी के विरुद्ध तुमने सविता से जो विवाह किया है उसे वे भूल जायें ? वे नहीं भूले तो तुम अपमानित हो उठें। क्यों ? क्या संवधों के सुधरने के पीछे यह आकांक्षा नहीं थी कि तुम्हें तुम्हारा प्राप्य मिले ? तुम्हें भी वह सव मिले जो उन्होंने अपनी दूसरी लड़की के पति को दिया है ?

नहीं, यह ग़लत है। उसने ज़ोर लगाकर कहा, पर आवाज़ गले में फँसी-फँसी-सी रही। खुलकर वाहर नहीं आ सकी।

यह ग़लत नहीं है। सही है। वरना वताओ, तुम सविता से अकसर ही यह क्यों कहा करते हो कि "तेरे पिता ने तो हद ही कर दी, राहुल के जन्म पर भी हरकत नहीं की ?" उन्होंने हरकत नहीं की तो तुम्हें क्या ग़म है ? पर नहीं, तुम्हें वरावर यह ग़म सताता रहा कि अगर तुम अपनी मर्ज़ी से विवाह नहीं करते तो तुम्हारी आज जो गिरी हुई आर्थिक दशा है उसमें थोड़ा-सा सुधार अवश्य होता। पिछले दस वर्षों में तुमने अपने सभी आदर्शों की जगह नये सपनों को जन्म दिया है। तुम्हें याद होगा, और अगर नहीं याद है तो मैं याद दिलाता हूँ। यह वारह साल पहले की वात है, जव देहरादून में तुम पैंथर पैन वर्कर्स यूनियन की स्ट्राइक का नेतृत्व कर रहे थे। उन दिनों लोग तुम्हें कामरेड कहा करते थे। वह हड़ताल सफल रही थी और वहाँ के मज़दूरों को तीन रुपये रोज़ के वजाय छह रुपये रोज़ की मज़दूरी मिलनी शुरू हो गयी थी। वह तुम्हारा मज़दूरों के वीच में किया हुआ पहला काम था और उसी में तुम सफल रहे थे। तुम्हारा चेहरा एक सुनहरी आभा से दिप-दिप किया करता था उन दिनों और जव भी तुम्हारा कोई दोस्त तुमसे यह वताते हुए कि वह फ़लाँ जगह फ़लाँ पोस्ट पर नियुक्त हो गया है, तुमसे पूछा करता था कि तुम्हारा क्या इरादा है तो तुम कितने गर्व से पैंथर पैन की स्ट्राइक वाले दिनों को याद करते हुए कहा करते थे, "जो आदमी जनता के वीच काम करता है जनता उसे भूखा नहीं रहने देती।" यह वताते हुए तुम आज की तरह ख़ुद को धोखा नहीं दे रहे होते थे वल्कि सच ही, उस सच्चाई की आँच से रोमांचित हो रहे होते थे। तुम्हें वे दिन याद हो आते थे जव तीन रुपये रोज़ पाने वाले मज़दूर, उनके वच्चे

और उनकी बीवियाँ तुम्हारे एक इशारे पर कुर्बान हो जाने को तैयार रहते थे। एक बार रात के ग्यारह बजे तुम्हारी सिगरेटें ख़त्म हो गयी थीं और तुम्हारे पास पैसे भी नहीं थे और तुमने किसी से कुछ कहा भी नहीं था, पर तुम्हारी बेचैनी को तुम्हारे इर्द-गिर्द बैठे रामचनवा, हरभजन और माँगेलाल पहचान गये थे। फिर तुम्हारे मना करने के बावजूद उस कंगाल, जर्जर और पीड़ित मज़दूर-बस्ती से चंदा इकट्ठा करके वे रात को बारह बजे साइकिल पर आठ किलोमीटर दूर शहर जाकर चारमीनार की दो डिब्बी ख़रीद कर लाये थे। तुम्हें याद है न ! सिगरेट पीते हुए तुम रो पड़े थे। और तुमने क़सम खायी थी कि तुम्हारे जीवन की एक-एक साँस इस मुल्क के मज़लूम लोगों के ही काम आयेगी।

वह उठकर खड़ा हो गया। उसका चेहरा राख जैसा हो आया था। ये उसकी वो यादें थीं जो कभी खँगोली नहीं गयी थीं और जिन पर दीमकों का पहाड़ जैसा ऊँचा मिट्टी का घर बन गया था। अब यह घर गिर रहा था और जहाँ-जहाँ से मिट्टी पूरी तरह हटती थी उसके बीते हुए जीवन का कोई एक हिस्सा झाँकने लगता था।

"जवानी का जोश था, और तब कोई ज़िम्मेदारी भी नहीं थी," उसने कहा और चौंक पड़ा। उसकी आवाज़ ? क्या हुआ उसकी आवाज़ को ? वह इस तरह कराहती हुई-सी निकली थी जैसे कोई घातक चोट लगी हो।

"ज़िम्मेदारी कैसे नहीं थी ? तब क्या तुम किसी अनाथालय से निकले थे ?" आकृति के होंठ हिले और वह थोड़ा पीछे हट गया। आकृति उसकी तरफ़ अपने क़दम बढ़ा रही थी।

"पाँच छोटे अबोध भाई-बहन और दो अशक्त माँ-बाप का परिवार क्या ज़िम्मेदारी नहीं होता ? लेकिन नहीं, तब तुम अपनी माँ से कहा करते थे।"

उसने पाया, वह पीछे लौट रहा है। इतना पीछे कि माँ की पकड़ाई में आ गया। वह दबे पाँव, रात के बारह बजे घर में घुसा था और चुपचाप अपने कमरे में प्रवेश कर गया था। लेकिन वह पकड़ा गया। कमरे में माँ थी, जागती हुई। वह क़रीब एक सप्ताह बाद घर में घुस रहा था और इस

तरह माँ को अपने कमरे में अपना इंतज़ार करता देख सकपका गया था। लगता था जैसे पूरे एक सप्ताह से माँ इसी तरह उसकी प्रतीक्षा में बैठी अनवरत जाग रही हो। वह चुप, कपड़े उतारने लगा था कि माँ ने कहा, "घर लौट आ, बेटे !"

उसने घूमकर देखा, माँ की आँखों में आँसू थे। वह जैसे भीख माँग रही थी। उसकी आँखें याचना की मुद्रा में फटी-फटी-सी हो आयी थीं। माँ की यह मुद्रा देख वह बिखर-बिखर पड़ने को हो आया था।

"माँ...!" वह माँ के एकदम क़रीब सिमट आया था। फिर धीरे लेकिन दृढ़ आवाज़ में बोला था, "मैं सब समझता हूँ, पर मैं कुछ भी करने में असमर्थ हूँ। अव्वल तो नौकरी मिलना इस मुल्क में आसान नहीं है। दूसरे, मान लो पाँच-छह सौ महीने की नौकरी कर, मैं घर बसाकर बैठ भी जाऊँ तो भी वह इतना कम होगा कि मुझसे अपनी ही गृहस्थी चलानी मुश्किल हो जायेगी। इस घर को तो मैं फिर भी कोई मदद नहीं दे सकता। मुझे पता है कि पाँच साल बाद डैडी रिटायर हो जायेंगे, पर मैं क्या कर सकता हूँ ? वैसे भी मेरे रास्ते इस वक़्त बिलकुल अलग हैं। वापस आना अब संभव नहीं रहा, माँ! ज़िंदगी-भर डर-डर के और रो-रो के जीते चले जाने और एक दिन दवा के, या ढँग के भोजन के अभाव में गुमनाम मौत मर जाने से बेहतर है ऐसे जीवन को जीने से इंकार कर देना, माँ ! मैं ऐसी घटिया ज़िंदगी को नामंज़ूर कर चुका हूँ और तुम्हें खुशी होगी कि मैं अकेला नहीं हूँ।"

उसकी बातों को माँ ने कुछ समझा था और कुछ नहीं समझा था। वह उस रात बहुत देर तक माँ के साथ बैठा रहा था और माँ को समझाता रहा था कि जब तब हर घर से एक-एक बेटा उसकी तरह बाहर नहीं निकलेगा तब तक यह जीवन ऐसा ही दुखमय बना रहेगा।

अब वह दिल्ली में है। माँ और पिताजी अपने शेष पाँच बेटे-बेटियों के साथ देहरादून में हैं। उसका रिश्ता घर से इतना ही बचा है कि साल-भर में एक बार या तो सविता को भेज देता है या खुद चला जाता है। उसके दो भाई इंटर करने के बाद क्रमशः एक कपड़े वाले और एक कास्मे-टिक वाले के यहाँ काउंटर-क्लर्क बने हुए हैं।

सहसा उसने पाया कि कमरे में आकृति नहीं है। उसने पलटकर चारों तरफ़ देखा, तभी परदा हटा कमरे के भीतर घुमती आकृति बोली, "बड़ी जल्दी लौट आये, अब वहाँ तुम्हारा दम घुटता है न !"

"नहीं, यह बात नहीं...!" वह सहसा ही खिसिया-सा गया।

"यही बात है।" आकृति ने क़हक़हा लगाते हुए कहा, "देखो, कितनी मज़ेदार बात है कि यह जो सविता है न, तुम्हारी पत्नी, यह तुमसे भी ज़्यादा ईमानदार निकली। यह आर्थिक स्तर पर तुमसे ज़्यादा सम्पन्न घर की थी। तुम्हारी तरह यह भी मूवमेंट में शरीक होती थी, पर इसने कभी बड़े-बड़े दावे नहीं किये और तुमने ग़ौर किया होगा कि जब कॉमैट बल्ब फैक्ट्री में हड़ताल के सिलसिले में तुम दोनों को पंद्रह-पंद्रह दिन की जेल हुई और जेल के बाद जब तुम दोनों बाहर आये तो सविता ने तुमसे कहा था कि यह सम्भवतः हम लोगों की अन्तिम मुलाक़ात है। डैडी मेरी इन एक्टिविटीज़ के सख्त ख़िलाफ़ हैं और वे हम सबको लेकर बम्बई जा रहे हैं, उन्होंने अपना ट्रांसफ़र करा लिया है।"

भरभराकर मिट्टी का एक बड़ा-सा ढेर ढह गया और उसका अतीत आदमक़द रूप में एक औचक तरीक़े से उसके सामने बेपर्द हो गया।

"लेकिन...लेकिन तुम चली जाओगी तो...नहीं, नहीं, तुम कैसे जा सकती हो?"...उसने हड़बड़ाकर सविता का हाथ थाम लिया था जैसे हाथ छूटते ही वह ग़ायब हो जायेगी।

"एक ही तरीक़ा है," सविता ने कहा था।

"क्या ?"

"हम शादी कर लेते हैं।"

"शादी ?" वह चौंक गया, "पर यह कैसे सम्भव है ?"

"क्यों, इसमें असम्भव क्या है ? बालिग़ हैं दोनों। कोर्ट हमारी मदद करेगा।"

"वो तो ठीक है पर...," वह हकलाने लगा था।

"तो ग़लत क्या है ?"

"नहीं, मेरा मतलब है, ये मूवमैंट, पार्टी, रिवोल्यूशन, आइडियोलॉजी...।"

"ये सब चीज़ें शादी में आड़े कहाँ से आती हैं ? हम क्या इनकी कॉस्ट पर मैरिज करने जा रहे हैं ? तुम होलटाइमर हो...मैं भी होलटाइमर हो जाऊँगी। पार्टी को तो इससे खुशी ही होगी। उसे दो कार्यकर्ता मिलेंगे।"

वह दंग रह गया। सविता का कमिटमेंट उसके लिए एक अचरज बन कर सामने था।

तभी उसने देखा कि आकृति उसे व्यंग्य-भरी नज़रों से घूरे जा रही थी। वह तिलमिला गया और कुछ कहने को हुआ कि तभी आकृति बोल उठी, "और तुम्हें शर्म आनी चाहिए कि सविता अपने कमिटमेंट से कभी पीछे नहीं हटी। शादी के बाद उसने एक बार भी तुमसे यह नहीं कहा कि तुम आन्दोलनों, विचारधारा या पार्टी का साथ छोड़कर दिल्ली भाग जाओ। पर तुम भाग आये। तुम लगातार मौक़े की तलाश में रहे और जैसे ही तुम्हें दिल्ली में छह सौ रुपये की नौकरी मिली तुम सब-कुछ छोड़-छाड़कर उस शहर को अलविदा कह आये। फिर एक से दूसरी और दूसरी से तीसरी बेहतर नौकरी तुम अपने-आप बदलते रहे। नौकरी से पूरा नहीं पड़ा तो तुमने पत्रकारिता के क्षेत्र में उतरने की बात सोची। भाषा तुम्हारे पास थी ही। आन्दोलनों में जमकर काम करने का अनुभव तुम्हारे पास था ही। तुमने अपने-आपको धोखा देना शुरू कर दिया। तुमने तर्क गढ़ा कि तुम पत्रकारिता के माध्यम से जन-संघर्षों को आवाज़ दोगे। लेकिन असल में तुमने क्या किया ? पैसा कमाने की धुन में, सुखी जीवन गुज़ारने की इच्छा में तुम फ़रमाइशी लेखन करते रहे। छद्म नामों से पत्रिकाओं के गॉसेप कॉलम लिखते रहे। घटनाओं को सेंसेशनल बनाते रहे और लोगों के दुखों व यातनाओं को बिक्री-योग्य बनाकर बाज़ार में फेंकते रहे...और इस तरह उन लोगों के हाथ मज़बूत करते रहे जिनके विरुद्ध ताउम्र लड़ने की कभी तुमने कसम खायी थी...।"

"बस करो...!" वह चीख़ता हुआ बोला और औंधे मुँह खाट पर गिर पड़ा। उसकी साँस बेहद तेज़ चल रही थी, माथा तप रहा था और हलक में काँटे-से गड़ने लगे थे। खाट से सिर उठाकर उसने देखा—कमरा घूम रहा था गोल-गोल और उसी के साथ वह आकृति भी। वह

मनहूस, दस वर्ष पहले के उसके चेहरे से मिलती-जुलती आकृति। कमरा तेज़ी से चक्कर काट रहा था और क्रमशः और तेज़ होता जा रहा था। इतना तेज़ कि आकृति कमरे की गति से एकाकार हो गयी और दिखनी बंद हो गयी।

"उफ़ !" उसके मुँह से निकला और उसने अपना सिर बिस्तर में छुपा लिया।

घंटी की तेज़ आवाज़ से उसकी नींद खुली। उसने झटके से उठना चाहा, पर नहीं उठ सका। अरे ! उसने अपनी भारी पलकों को दो-तीन बार खोला, बंद किया और तब जाकर उसे मालूम चला कि वह तेज़ बुख़ार में तप रहा है और कमर में बेतरह दर्द है तथा दिमाग़ की थकन हैंग-ओवर जैसी है।

घंटी फिर बजी, कर्कश आवाज़ में; देर तक। किसी तरह वह उठा और घिसटता-सा दरवाज़े पर गया। दरवाज़ा खोलकर उसने देखा—दूधवाला था। चारों बोतलें लेकर उसने एक सप्ताह तक दूध वाले को दूध न लाने की हिदायत दी और वापस कमरे में आ गया। दूध की बोतलें बग़ल की मेज़ पर रख उसने अलमारी खोल थर्मामीटर निकाला और तीन बार झटककर मुँह में लगा लिया।

104 डिग्री बुख़ार था। थर्मामीटर वापस अलमारी में रख उसने सुराही में से एक गिलास पानी निकालकर पिया और वापस खाट पर आ बैठा। फिर उसने घड़ी देखी। सात बजे थे। वह फिर से लेट गया और आँखें बंद कर लीं।

दुबारा उसकी आँख फिर घंटी की आवाज़ से खुली। नौ बजे थे। वह हिम्मत कर उठा और दरवाज़ा खोल दिया—जमादारनी थी।

तीसरी बार जब घंटी बजी तो उसे गुस्सा आ गया। दरवाज़ा खोलने पर उसने पाया—प्रेस वाला था, जो कपड़े माँग रहा था।

"नहीं हैं।" उसने लगभग चीख़ते हुए कहा और बिना दरवाज़ा बंद किये वापस कमरे में आ लेटा।

घंटी फिर बजी। वह नहीं उठा। घंटी रुकी और फिर बजी। फिर

रुकी और बजती ही चली गयी। वह चुपचाप पड़ा रहा। आख़िर दरवाज़ा खुलने और किसी के प्रवेश करने की आवाज़ आयी। वह सुनता रहा।

"दीदी!" एक स्त्री-स्वर उभरा और कमरे का परदा हिला। फिर एक चेहरे ने कमरे में झाँका और उसने आँखें बन्द कर लीं।

"भाई साहब!" उसके कानों ने कहीं दूर से आती आवाज़ सुनी—मक्खी की भिन-भिन की तरह—और उसने अपनी पलकें उठायीं। सामने वाले क्वार्टर फ़िफ़्टी-थ्री की मिसेज़ चोपड़ा थी—सविता की हमउम्र... नहीं, दो वर्ष छोटी सहेली।

"नहीं है। बम्बई गयी है।" उसने थरथराती आवाज़ में कहा।

"आपकी तबीयत ख़राब लगती है?" मिसेज़ चोपड़ा ने पूछा। उसने स्वीकृति में गरदन हिलायी, फिर इशारे से लिखने के लिए पेन और राइटिंग पैड माँगा। पैड पर उसने दफ़तर का फ़ोन नम्बर और बीमारी का संदेश लिख मिसेज़ चोपड़ा को पकड़ाते हुए कहा, "प्लीज़...आपको कष्ट तो होगा...!" इतना कहकर वह फिर अचेत हो गया।

आँख खुली तो शाम के छह बजे थे। बुख़ार उसी तरह था। बदन का दर्द बढ़ गया था और मुँह में कुनैन जैसी कड़वाहट महसूस हो रही थी। उसने मन-ही-मन मिसेज़ चोपड़ा को गाली दी जो उसके लिए डॉक्टर की भी व्यवस्था नहीं कर सकी। फिर उसे ध्यान आया कि तीन साल से यहाँ रहने के बावजूद कालोनी के लोगों से उसका रिश्ता ही क्या रहा है? सिवाय फ़िफ़्टी-थ्री के बारे में यह जानने के कि वहाँ कोई मिस्टर चोपड़ा रहते हैं, वह और कुछ भी नहीं जानता। न उनका पूरा नाम, न ही यह कि वे काम क्या करते हैं। ऐसी स्थिति में कोई उसके पास क्यों आयेगा?

पर तभी मिस्टर और मिसेज़ चोपड़ा ने कमरे में प्रवेश किया। वह असहाय-सा उन्हें देखता रहा। मिस्टर चोपड़ा ने अपनी हथेली से उसके बुख़ार को मापने का प्रयत्न किया, पर तुरन्त ही छोड़ दिया। उसका हाथ तप रहा था और चेहरा लाल हो आया था। मिस्टर चोपड़ा ने अपनी पत्नी से कुछ कहा और पत्नी को वहीं छोड़ बाहर निकल गये। वह कुछ देर मिसेज़ चोपड़ा को देखता रहा, फिर उसकी आँखें बन्द हो गयीं।

इस बार उसकी आँख खुली तो एक पंखे को घूमते पाया। उसके सिर के ऊपर पंखा तो नहीं लगा था। उसने गरदन घुमायी और पाया कि वह अस्पताल में है। घड़ी देखी—सुबह के आठ बजे थे और तारीख तेरह हो गयी थी। यानी, उसने दिमाग़ पर ज़ोर दिया, सविता को गये चार रोज़ गुज़र गये। यानी, अस्पताल आये उसे तीन दिन, नहीं दो दिन, नहीं... आगे वह सोच नहीं सका कि अस्पताल आये उसे ठीक-ठीक कितना वक़्त गुज़र गया !

कितना अकेला है वह ! ऐसे मौक़े पर ही सविता को भी जाना था ! उसे धीरे-धीरे ग़ुस्सा आने लगा। फिर उसका ग़ुस्सा कातर होता चला गया और उसके भीतर रुलाई उमड़ने लगी। क्या हुआ है उसे ? उसने सोचा और सोचते ही वह पसीना-पसीना हो आया। उसके चेहरे वाली आकृति उसके ऐन सामने खड़ी थी। नहीं, उसने हाथ हिलाकर कहा और आकृति ग़ायब हो गयी। मिस्टर और मिसेज़ चोपड़ा थे।

मिस्टर चोपड़ा ने उसका हाथ और माथा देखा, फिर कुछ आश्वस्त-से हुए और बोले, "अब तो काफ़ी ठीक हैं आप !"

"हाँ," उसने मुसकराने की कोशिश की।

"यह टेलीग्राम आया था कल रात।" उन्होंने उसके हाथों में तार पकड़ाते हुए कहा।

उसने तार नहीं लिया और पूछा, "क्या लिखा है ?"

मिस्टर चोपड़ा ने टेलीग्राम फाड़ा और पढ़ते हुए बोले, "बैड न्यूज़, सविता भाभी का टेलीग्राम है। आपको तुरन्त बुलाया है।"

"क्या हुआ ?" उसका दिल डूबने लगा।

"आपके फ़ादर इन लॉ का देहांत हो गया है।"

"मुझे तुरन्त जाना चाहिए।" उसने कहा और उठकर बैठने की कोशिश की, पर सफल नहीं हुआ। आधा उठकर वह फिर गिर पड़ा। उसने बेबस नजरों से मिस्टर चोपड़ा को देखा जो गुमसुम-से खड़े थे। उसकी आँखें बन्द-सी होने लगीं और दिमाग़ में फुलझड़ियाँ-सी छूटने लगीं। तभी उसने देखा, उसके दफ़्तर के दो सहयोगी कमरे में घुसे। उसने फिर उठने की कोशिश की, पर फिर असफल रहा। दोनों सहयोगी उसके बिस्तर के

पास आकर खड़े ही हुए थे कि कमरे में डॉक्टर ने प्रवेश किया।

क्रमशः मुँदती जा रही आँखों को सप्रयत्न खोल उसने देखा—डॉक्टर के पीछे-पीछे वह आकृति भी कमरे में घुसी थी। उसकी आँखें बन्द हो गयीं और चेहरा बिलकुल सफ़ेद पड़ गया।

पत्नी

नहीं, वह नींद में नहीं था।

दरवाज़े के बाहर, इक्कीस सीढ़ियाँ चढ़कर रुका था और घंटी पर उँगली टिका कर दो सैकेंड खड़ा रहा था। फिर सिगरेट जलायी थी कि तभी वह फिर दिखायी दी। वही काली, चिकनी, ठोस बड़ी चट्टान, धीरे-धीरे लुढ़कती, उसकी तरफ़ एक निश्चित गति से आती हुई। भय से उसकी आँखें फटने को हो आयीं और सिगरेट उँगलियों से फिसल कर ज़मीन पर गिर पड़ी।

तभी दरवाज़े की चिटखनी खुलने की आवाज़ हुई और उसने चाहा कि जिसने भी दरवाज़ा खोला हो वह उसे अपने आग़ोश में ले ले और उसे भयावह चट्टान से बचा ले। पर, दरवाज़े के पल्ले नहीं खुले। सिर्फ़ चिटखनी खुली थी। ज़मीन पर पड़ी सिगरेट उठाने के लिए झुकते हुए दरवाज़े की झिर्री में से झाँक कर उसने देखा—गीता चिटखनी खोलकर वापस जा रही थी कमरे में। उसका मन किया, वह सीढ़ियाँ उतर जाये। घड़ी देखी—दस बजकर अट्ठावन मिनट सत्ताइस सैकेंड हुए थे। जेब देखी—तीन रुपये पैंतालिस पैसे शेष थे। यानी साढ़े-दस की लास्ट बस छूटे हुए काफ़ी समय हो गया था और स्कूटर का बिल उसकी जेब पर भारी था। यानी अपने घर में घुसने के सिवा वह कहीं नहीं जा सकता था। उसने सिगरेट जला ली और खड़ा रहा। अचानक पेट में तेज़ ऐंठन-सी महसूस हुई।

नहीं, यह मरोड़ या पेचिस की ऐंठन नहीं, भूख की थी। भूख के नाम पर उसे याद आया कि दिन-भर में सत्रह-अट्ठारह कप चाय के सिवा

उसके पेट में कुछ नहीं गया है।

उसने अंततः दरवाज़े को धक्का दिया और सिगरेट को सीढ़ियों पर ही फेंक दिया। फिर वह भीतर घुसा। बारामदा पार करके कमरे के सामने आया। परदे के बाहर ठिठका, फिर परदा हटाकर कमरे में प्रवेश कर गया।

गीता सो रही थी। नहीं, फिर सो गयी थी। एक, पूरे एक मिनट वह सोयी हुई गीता के चेहरे पर अपनी खाली-ख़ाली-सी नज़रों को टिकायें रहा, फिर धीरे से चलता हुआ अपनी मेज़ पर आ गया। थैले को मेज़ पर रख वह कुरसी पर बैठ गया और जूते-मोज़े उतारने लगा। फिर चश्मा उतारकर उसने मेज़ पर रखा और कमीज़ की जेब से सिगरेट की डिब्बी और माचिस निकालकर मेज़ पर रख दी। फिर वह कमीज़ उतारने लगा। फिर उसने पेंट उतारी और पायजामा पहना। फिर उसने चप्पलें ढूँढ़ी और फिर वह बास मारते पैरों को धोने के लिए गुसलख़ाने की ओर चला। यह सब इतना धीरे-धीरे हो रहा था कि अगर यह स्लो-मोशन किसी हिंदी फ़िल्म का होता तो हॉल में सीटियाँ बजने लगतीं। पर यहाँ कमरे के पूरे सन्नाटे में सिर्फ़ गीता की नाक बज रही थी।

पाँव धोने के बाद वह आया तो उसने तौलिया तलाशा, जो नहीं मिला। फिर उसने अलमारी खोली, पर खाना भी नहीं मिला। खाना होता तो शायद वह नहीं खाता। उसकी भूख कसैली हो गयी थी। लेकिन खाना दिखायी नहीं दिया तो उसे ज़ोरों से भूख लगने लगी। वह फिर कुरसी पर आ बैठा। फिर उठा और एक गिलास पानी पीकर वापस कुरसी पर आ बैठा और सिगरेट जलाने लगा। पहले तो पानी ने और फिर सिगरेट के धुएँ ने उसके ख़ाली पेट को चीर-सा दिया। उसका चेहरा विकृत हुआ और वह सिगरेट तथा लाइट बुझाकर अपनी खाट पर आ गया।

उसने एक से सौ नहीं, बल्कि तीन सौ तक गिनती गिनी और तीन सौ से चलकर वापस एक पर लौट आया—निर्विघ्न। नींद नहीं आयी। सहसा उसकी सारी निरपेक्षता काँच की तरह बिखरने लगी और एक ज़हरीला तनाव उसकी रग-रग में उतरने लगा। वह झटके से उठा, उसने लाइट जलायी और गीता के सिर के बाल पकड़ कर उसे उठाकर

बिठा दिया।

'तुम इतनी शांति से नहीं सो सकतीं," उसने चीखकर कहा और बाल छोड़ दिये।

"क्योंकि तुम जाग रहे हो।" गीता ने ठंडी आवाज़ में जवाब दिया।

उसका सारा आक्रोश पिघल गया। वापस कुरसी की पुश्त से सिर टिकाकर बैठ गया और आँखें बंद कर लीं। उसने खट की आवाज़ सुनी और आँखें खोलीं—अँधेरा था।

सहसा ही घबराकर उसने आँखें खोल दीं। चट्टान अब नहीं थी। वह चट्टान के नीचे आने से बाल-बाल बचा था। उसने पाया कि उसकी घड़ी के रेडियम-मढ़े अंक अँधेरे में चमक रहे थे और साँसें असामान्य रूप से तेज़ थी। घड़ी में ठीक दो बजे थे। वह कुरसी से उठा और लाइट जला दी। गीता लिहाफ़ को मुँह तक ढके सो रही थी। उसने पाया कि उसे भूख के साथ-साथ ठंड भी लग रही है। पहले उसने सोचा कि वह भी गीता के लिहाफ़ में घुस जाये और उसे प्यार करता हुआ उसकी गरमाहट का सुख लेता हुआ सो जाये। फिर उसे ध्यान आया कि गीता की बग़ल में तो आशू सो रहा होगा। काफ़ी देर तक वह समझ नहीं पाया कि उसे अपने ठंडे बिस्तर में घुसना चाहिए, या आशू को गीता के पास से उठाकर ठंडे बिस्तर पर सुला देना चाहिए, या उन्हीं दोनों के साथ उसी बिस्तर में घुस जाना चाहिए। अंततः तीसरे निर्णय को मानवीय मान उसने लाइट बंद की और गीता के बिस्तर में घुस गया। तुरंत ही उसे उठना पड़ा और लाइट जलानी पड़ी। उसने झटके से पूरा लिहाफ़ गीता के ऊपर से उठा दिया। नहीं! आशू सचमुच नहीं था। लिहाफ़ उठ जाने से ठंड के आकस्मिक आक्रमण के कारण गीता कुनमुनाने लगी थी। उसने गीता को जगाकर बिठा दिया। गीता अधखुली और मिचमिची आँखों से उसे घूरने लगी।

"आशू कहाँ है?"

"अब ध्यान आया है?" गीता का जवाब था।

"पर वह है कहाँ?" वह झल्ला पड़ा।

"तुम इतनी देर से क्यों आये ?"

"यार, अजीव पागल औरत है। मैं पूछ रहा हूँ, आशू कहाँ है ?"

"और मैं पूछ रही हूँ, तुम इतनी देर से क्यों आये ?"

"मुझे दफ़तर में ओवरटाइम करना पड़ा," उसने कहा, "वैसे भी मेरे देर से आने का आशू के साथ कोई संवंध नहीं है।"

"साढ़े पाँच बजे के बाद तुम दफ़तर में नहीं थे।"

"था।"

"नहीं थे।"

"कल फ़ोन कर के पूछ लेना।"

"मैं पौने-छह बजे दफ़तर गयी थी।"

"क्या ?" वह लगभग चीख़-सा पड़ा।

"हाँ।" गीता ने शांत उत्तर दिया।

"तो नौवत यहाँ तक पहुँच गयी है !" उसने शब्दों में कड़वाहट लाते हुए पूछा, "तुम मेरी जासूसी करती फिर रही हो !"

"अपने पति के दफ़तर जाना जासूसी है ?"

"जासूसी नहीं, दुस्साहस है। आख़िर मेरी नहीं, तो अपनी ही 'प्रेस्टिज' का ख़याल किया होता। दफ़तर वाले क्या सोच रहे होंगे ?"

"दफ़तर वाले सोच नहीं, कह रहे थे कि तुम अकसर ही किसी वाल-कटी लड़की के साथ शाम को चले जाते हो।"

"वकते हैं। लोगों को दूसरों के घरों में आग लगाने का शौक होता है।"

"तो तुम नहीं जाते हो ?"

"सुनो, तुम बात मत वढ़ाओ। आशू कहाँ है ?"

"उसे अम्मा ले गयीं अपने साथ।"

"अम्मा ?"

"हाँ, वो सुबह आयी थीं बंवई से। आज ही वापस भी चली गयीं।"

"क्यों ?"

"मुझे नहीं पता।"

"तुमने ज़रूर कुछ कहा होगा।"

"कुछ नहीं कहा मैंने। इस घर की दीवारें और एक-एक चीज़ बताती है कि यहाँ क्या कुछ हो रहा है!"

"आशू को भेजने के लिए मुझे बताना ज़रूरी नहीं था?"

"मैं तुम्हें बताने के लिए ही तुम्हारे दफ़्तर गयी थी। अम्मा भी साथ थीं। वहीं से वो आशू को अपने साथ ले गयीं। वैसे भी आशू के साथ तुम्हारा रिश्ता क्या है?"

"मुझे अब रिश्ते की व्याख्या करनी पड़ेगी?"

"तुम कर नहीं सकते। खाना-कपड़ा दे देने से रिश्ता नहीं बन जाता।"

"ओह, शटअप!" उसने चीखकर कहा और अपने ठंडे बिस्तर पर जाकर लेट गया। गीता कुछ देर उसे देखती रही, फिर स्विच-बोर्ड की तरफ़ बढ़ गयी। लाइट बंद करने से पहले उसने देखा, वह अपने सीधे हाथ की सबसे छोटी उँगली से अपनी बायीं आँख से निकला एक आँसू गाल पर से उठा रहा था।

'हुँह!' उसने गरदन झटकी और लाइट बंद कर दी।

ऐसा क्यों होता है? आदमी अकेलेपन से बचने के लिए प्रेम करता है, घर बसाता है, कल्पनाएँ खड़ी करता है और पाता है कि प्रेम के बाद वह और ज़्यादा अकेला हो गया है। जो नहीं था वह मिल नहीं सका है और जो था वह भी नहीं रहा है।

और यह भारी, काली, चिकनी चट्टान क्या है? क्यों लगता है जैसे कोई आसमानी बला हाथ धोकर मेरे पीछे पड़ी है और जब तक मुझे अपना शिकार नहीं बना लेगी तब तक उसका पीछा करना जारी रहेगा? किस बात का प्रतीक है यह चट्टान? सोते में, जागते में, सड़क पर, दफ़्तर में, बिस्तर पर और बस में लुढ़क-लुढ़ककर मेरी तरफ़ आती हुई यह चट्टान किसी अभिशप्त प्रेत की तरह क्यों मँडरा रही है?

और आख़िरकार ग़लत कौन है, इसका फ़ैसला कैसे होगा? अगर मुझे लगता कि मेरी अपेक्षाएँ ही अनुचित हैं तो मैं सुखी हो सकता था, पर

मुझे ऐसा नहीं लगता। अगर मुझे लगता कि गीता की अपेक्षाएँ ग़लत हैं तो भी मैं सुखी रह सकता हूँ, पर मुझे ऐसा भी नहीं लगता। अब सवाल यह है कि अगर गीता की अपेक्षाएँ भी उचित हैं और मेरी अपेक्षाएँ भी सही हैं तो ग़लती कहाँ है? अगर हम दोनों ही सही हैं तो समझौता कैसे होगा? उसका आरोप है कि मैं घर समय पर नहीं लौटता। इतवार को भी दोस्तों या कार्यक्रमों की भेंट चढ़ा देता हूँ। आरोप अपनी जगह सही हो सकता है, पर अगर वह यह देखे कि मेरी ज़िंदगी का एक-एक क्षण कितना व्यस्त है तो...पर वह इस तरह के तर्कों को सुनते ही स्वयं को घर के सामान में रिड्यूस कर लेती है। अगर वह सोच सके कि 'घर' आदमी की 'बेसिक वीकनेस' है और इस बुनियादी चाह से भी मैं दूर भाग रहा हूँ तो इसका सीधा मतलब है कि यह 'घर' वैसा नहीं रहा जैसा 'घर' को होना चाहिए। गीता के अनुसार यदि मैं घर को सराय समझता हूँ तो इसकी थोड़ी-सी भी ज़िम्मेदारी उस मालकिन पर नहीं जाती जिसने 'घर' के सराय में तब्दील हो जाने की वजहें पैदा की हैं।

ऐसा क्यों हुआ कि सारी दुनिया की छाती पर मूँग दलते हुए शादी कर लेने वाले दो प्रेमी एक-दूसरे की छाती पर मूँग दलने के लिए आमने-सामने आ डटे हैं, एक-दूसरे के बिना ज़िंदा न रह पाने की समझ वाले वाले लोगों को एक-दूसरे के साथ रहना दूभर हो उठा है, एक-दूसरे पर अपने अथाह प्रेम की बौछार करने वाला जोड़ा एक-दूसरे पर अपनी नफ़रत उँडेल रहा है? ऐसा क्यों हुआ कि एक का सच दूसरे का झूठ बन गया, एक की लड़ाई दूसरे का तमाशा बन गयी? साथ चलते-चलते भी विश्वास कहाँ छूटकर गिरे, आस्थाएँ कहाँ गिरकर मरीं, जीवन कहाँ बेमानी हुआ? सगे-संबंधियों की भरी-पूरी दुनिया को दुश्मन बनाकर जो घर बनाया, वह घर दुश्मन के तहख़ाने में कैसे बदल गया?

"पाँच, छह, सात और ये आठ। इस बार आठ सौ रुपये ही हैं। दो सौ रुपये उधार रहे...महीने के बीच में देखूँगा यदि इंतज़ाम हो सका कहीं से।" उसने गीता को सैलरी पकड़ाते हुए कहा, "इनमें से जेब-ख़र्च के लिए फ़िलहाल सौ रुपये मुझे भी चाहिए।"

"तुम सारे ही पैसे खुद रखो।" गीता ने ठंडा जवाब दिया, "आठ सौ हैं या हज़ार, तुम जानो। तुम्हारा घर है।"

उसे ग़ुस्सा नहीं आया, दुख हुआ। गीता ने इस बार यह भी नहीं पूछा था कि सैलरी ग्यारह सौ सत्तावन रुपये है तो बाक़ी पैसों का क्या हिसाब है?

"यह भी नहीं पूछोगी कि बाक़ी पैसे क्या हुए?"

"उस बालकटी पर फूंक दिये होंगे," गीता ने चिढ़कर जवाब दे दिया।

"गीता, मेरे पेशे से जुड़ी चीज़ों पर तो शक न करो। वह लड़की ड्रामा-क्रिटिक है, अपने कॉलम के लिए लिखाने के सिलसिले में कभी-कभी मिलना पड़ता है उससे। दूसरी बात," उसने तनाव को हलका करते हुए मजाक में कहा, "वह मिस नहीं, मिसेज़ जोशी हैं। अपना कोई चांस नहीं है वहाँ।"

"शादीशुदा औरतें ज़्यादा फ़्लर्ट होती हैं।"

"लैंग्वेज प्लीज़, गीता! मिसेज़ जोशी शहर की न सिर्फ़ बेहद जीनियस वरन सम्मानित महिला हैं।"

"मुझे क्या!" गीता ने तमक कर कहा, "मेरे सिवा दुनिया की हर औरत तुम्हारे लिए सम्मानित है।"

"अच्छा, ये पैसे तो लो।"

"नहीं।

"गीता, प्लीज़ झगड़ा न करो। चलो, शॉपिंग के लिए चलते हैं।"

"कोई मूड नहीं है। फिर तुम्हारे साथ बाहर जाने से अच्छा है घर में ही रहा जाये। लोगों की भीड़ के बीच मनहूस चेहरे को लेकर घूमने से अच्छा है भीतर बंद रहना।"

"तुम्हारी इच्छा। भाड़ में जाओ!" उसने गुस्से से कहा और पैसों को वापस कोट की जेब में डाल बाहर निकल गया।

घर से बाहर निकल उसने घड़ी देखी। शाम के सात बज गये थे और सड़कों पर अँधेरा उतरने लगा था। सहसा उसे ध्यान आया कि क्यों न एक चक्कर मेडिकल इंस्टीट्यूट का लगा लिया जाये! क़रीब दस

दिन से हरीश निगम वहाँ एडमिट है और वह अब तक उसे देखने नहीं जा सका है। मेन रोड पर पहुँचकर उसने देखा, मेडिकल जाने वाली 512 नंबर की डीलक्स खड़ी है। वह लपक कर बस में चढ़ा, एक रुपये का टिकट लिया और एक आरामदेह-सी सीट पर बैठ आँखें बंद कर लीं।

हरीश निगम। पेशे से एकाउंट क्लर्क, रुचियों से कवि। वह अकसर कहा करता था, 'यह विरोधाभास ही मेरे जीने की शक्ति है। बिना चुनौती के मेरा जीना संभव नहीं है।' एक वीतरागी मुद्रा वाला कमज़ोर चेहरा उसकी बंद आँखों में तैरने-उतराने लगा। बीमारी भी हुई तो क्या? ब्रेन ट्यूमर।

और चट्-चट करता, नसों को तोड़ता-सा एक असहनीय दर्द उसके सिर में मचलने लगा—यक-ब-यक। फिर वही काली, लुढ़कती हुई चिकनी चट्टान और उसने घबराकर आँखें खोल दीं। कंडक्टर उसका कंधा थपथपाकर उसे जगा रहा था। इंस्टीट्यूट पहुँच कर बस खाली हो गयी थी। वह झेंपता-सा उठ खड़ा हुआ।

नीचे उतरकर उसे ध्यान आया कि मरीज़ों से मिलने का समय तो 4 से 6 तक का है। अब? उसने सोचा और 'जहाँ न पहुँचे कवि वहाँ पहुँचे पत्रकार' की अपनी बनायी मंत्र-सिद्धि को दोहराते हुए कई तरह के चोर रास्तों से निकलता हुआ चौकीदारों को आठ आने, रुपया पकड़ाता हुआ अंततः वह थर्ड फ़्लोर के कमरा नंबर 34 में बैड नंबर तेरह के सामने था और हरीश से हाथ मिला रहा था।

हरीश के कमज़ोर चेहरे पर एक सूखी मुसकान उतर आयी थी और वह हरीश को बता रहा था कि "एक रिपोर्ट के सिलसिले में वह शहर से बाहर था। कल रात को लौटा है, तभी पता चला।"

"कैसे हुआ?" वह पूछ रहा था और हरीश बता रहा था, "कुछ नहीं यार, हम लोगों की जान को टैनशंस क्या कम लगे रहते हैं? दिमाग़ में फोड़ा नहीं बनेगा तो क्या होगा?"

"वैसे एक बात कहूँ," हरीश ने उसका हाथ दबाते हुए कहा, "मैं बचूँगा नहीं, मुझे पता चल गया है।"

"पागल हो गये हो!" वह बौखला गया।

"नहीं, सच कह रहा हूँ और इसका कारण भी बहुत ठोस है।"

"क्या?" उसने हरीश की तरफ़ झुकते हुए पूछा। उसे भय-सा सताने लगा था जैसे हरीश कोई ऐसा रहस्य बताने जा रहा रहा हो जिसके उद्‌घाटन से न सिर्फ़ हरीश का वरन उसका खुद का भी मरना निश्चित हो उठता हो।

"मरना-जीना इच्छा-शक्ति और सपनों पर डिपेंड करता है," हरीश ने अपनी आँखों को मींचते हुए कहा, फिर झटके से आँखें खोलकर इधर-उधर देखा और आहिस्ता से बोला, "इस दुनिया में जीने का या जीते चले जाने का कोई अर्थ है? एक बेहद मज़बूत 'बोरडम' मेरे भीतर लगातार बड़ी होती जा रही है...कोई इच्छा या किसी तरह की ललक भीतर उपस्थित नहीं है। इसीलिए कहता हूँ कि मेरा बचना संभव नहीं है। एक होती है न सिक्स्थ सेंस...यह सिक्स्थ सेंस कहती है, बेटे हरीशचंद्र निगम बुलावा आ गया है।" हरीश ने अंतिम वाक्य काफ़ी मज़े लेकर बुना और आँखें तथा होठ बंद कर लिये।

वह अचानक अकेला हो गया। एकदम अकेला और भयाक्रांत। उसने कमरे में नज़र दौड़ायी – कुछ मरीज़ अपनी पीड़ित आँखों से मानो कराहते हुए बोल रहे थे – 'बुलावा आ गया, बुलावा आ गया।'

नहीं, उसने गरदन झटक इस बेहूदी कल्पना को दूर किया और तेज़ी से कमरे से बाहर निकल गया। तेज़-तेज़ चलता हुआ वह सीढ़ियों से नीचे उतरा और इंस्टीट्यूट से बाहर आ सिगरेट जलाने लगा।

'मरना या जीना सपनों पर डिपेंड करता है।" उसने हरीश द्वारा बोले वाक्य को दोहराया और एक हाथ पैंट की जेब में डाल पैदल ही घर की ओर चलने लगा। पैदल चलते-चलते जब वह थक गया तो उसने एक स्कूटर रोका और उसमें बैठकर आँखें बंद कर लीं।

घर की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उसने सोचा कि अगर गीता ने यह सोचना शुरू कर दिया कि उसके पास जीने के लिए एक भी बहाना या सपना नहीं बचा है तो आशू का क्या होगा, खुद उसका क्या होगा? अपना ख़याल करने पर उसने पाया कि वह कितना कमज़ोर है! गीता की अनुपस्थिति की कल्पना तक से लड़खड़ा उठा है। असल में एक अरसे बाद पत्नी

आदमी की आदत में शुमार हो जाती है।

घर में घुसा तो गीता खाना बना रही थी। उसे देखते ही बोली, "सुनो, तुम गर्म-गर्म खाना खा लो। कितने लंबे समय बाद तुम खाना बनने के वक़्त घर में हो! खाओ न, मुझे अच्छा लगेगा।"

उसने गीता की तरफ़ देखा और अनायास ही उसकी रुलाई-सी फूट पड़ने को हुई। वह घुटनों के बल ज़मीन पर बैठा और गीता के गले से लिपट बेआवाज़ रोने लगा।

जन्मभूमि

[यह रचना है, कहानी नहीं। कहानी होने के लिए जो केंद्रीय कथ्य, पठनीयता, सुसंबद्ध घटनाक्रम, सुचिंतित विचार, समाधान या दावा चाहिए वह इसमें नहीं है। ये सब 'नहीं' अगर इसे 'एंटी-स्टोरी' बनाते हैं तो यह 'एंटी-स्टोरी' है, लेकिन अगर 'एंटी-स्टोरी' कोई विधा है तो यह 'एंटी-स्टोरी' भी नहीं है। इसका कोई आरंभ नहीं है और कोई अंत भी नहीं है। लड़ते-लड़ते थककर पराजित (परास्त नहीं) होने पर इसका अंत मान लिया गया है और लड़ाई की शुरुआत को आरंभ कहा गया है। इसमें कोई सिलसिला नहीं है। कोई तुक नहीं है। ठीक उसी तरह जैसे जीवन में कोई तुक नहीं है और याददाश्त कभी सिलसिलेवार आपका पीछा नहीं करती। इसमें कोई नायक नहीं है।

मगर नायक होना चाहिए था। अगर नायक होता तो यह रचना, यह जीवन ऐसा न होता जैसा है। और यह रचना, यह जीवन, यह इतने सारे लोग नायक के इंतज़ार में ही तो हैं। तमाम और देशों की तरह इस मुल्क को भी नायक की ज़रूरत है और नायक सड़ी-गली स्थितियों, बेहद बुरे, बेहद अक्षम लेकिन बेहद मजबूर लोगों के बीच से पैदा होता है। यह रचना इसी 'पैदा होने वाले नायक' की जन्मभूमि है। नायकों की जन्मभूमि ऐसी ही हुआ करती है—इतनी ही बुरी, बदहाल, बदशक्ल और मजबूर, जैसी यह रचना। अस्तु।]

ऐसा होना नहीं चाहिए था, पर हुआ था। दिसंबर के अंतिम दिनों की पहाड़ी ठंड में रात के साढ़े-बारह बजे वे घर के पिछले दरवाज़े के पास

इस तरह खड़े मिलेंगे, मैं अपनी कल्पना में भी इस स्थिति का सामना नहीं कर सकता था। ऐसा आज तक नहीं हुआ था। घर का मेन-गेट बंद ही मिलता रहा है मुझे और मैं नियमानुसार घर के पिछवाड़े वाली दीवार पर चढ़कर आँगन में कूदकर घर में प्रवेश पाता रहा हूँ—पिछले पाँच वर्षों से लगातार, और इन पाँच वर्षों में ऐसा कभी नहीं हुआ कि वे इस तरह टकरे हों—-षड्यंत्र की तरह, योजना के तहत।

यह हरगिज़ नहीं माना जा सकता था कि जो शख्स तीन वर्ष पहले अपने सबसे बड़े लड़के को मृत मानकर अपने शेष तीन लड़कों और दो लड़कियों के सुखों-दुखों में रम चुका हो वह इस तरह अचानक अपने उसी मृत लड़के की आतुर और प्रेमाकुल प्रतीक्षा में इतनी रात गुज़रने पर भी अपने बूढ़े, जर्जर शरीर पर पहाड़ी ठंड के थपेड़े सह रहा हो और वह भी केवल इसलिए कि उसने अपने बड़े लड़के का चेहरा लगभग एक वर्ष से नहीं देखा, इसीलिए तड़प उठा और भागा चला आया—घर के पिछवाड़े। दिसंबर के अंतिम दिनों की ठंड में, रात के साढ़े-बारह बजे।

नामुमकिन। मैं सोच रहा हूँ और वे ऐन सामने आकर खड़े हो चुकें हैं। मैं धम्म से कूदने के बाद ज़मीन से इस तरह उठकर खड़ा हुआ हूँ जैसे बिना चोरी किये ही चोर पकड़ा जाये, घुसते ही।

थियेटर के लोग नोट करें। यह बहुत दिलचस्प और कौतुकपूर्ण कंपोज़ीशन है। मान लें कि यह किसी नाटक का एक दृश्य है। कल्पना करें, नेपथ्य से गूँजती पहाड़ी हवा की पागल सूँ...सूँ...हा...हा...फर्र ...फर्र...रहस्यमय अँधेरा...स्तब्ध दर्शक...मंच पर दो पुरुष-आकृतियाँ ...चुप...देर तक। होने लगी न सिहरन! अनहोनी के इंतज़ार में बैठे दर्शकों की बेचैनी इतनी विकट कि पहलू भी नहीं बदल पा रहे।

ठीक इसी समय कुछ होना चाहिए। देर तक इस दृश्य को स्टिल नहीं रखा जा सकता। रहस्यमय क्षणों की स्थिरता कभी-कभी विपरीत प्रतिक्रिया को जन्म दे देती है। निर्देशक नोट करें, कुछ होना चाहिए। कुछ भी। इंतज़ार करती आकृति कूदने वाली आकृति को पिस्तौल की नोक पर गिरफ्तार कर ले, कूदने वाली आकृति को खड़े होते ही घूँसा खाकर गिर जाना पड़े, दोनों आकृतियाँ गुत्थमगुत्था हो जायें, कूदने वाली

आकृति इंतज़ार करती आकृति के पाँवों पर गिरकर रहम की भीख माँगने लगे, इंतज़ार करती आकृति...।

कि तभी उस नीम-अँधेरे मंच पर खड़ी इंतज़ार करती आकृति ने नाटक और नाटक के निर्देशक के वजूद को नकारते हुए अस्फुट स्वर में कहा, "तुम ग़द्दार हो।"

ग़द्दार? मुझे अपने कानों पर यक़ीन नहीं हुआ। कहानी अपनी स्वनिर्मित दिशा में मुड़ गयी थी, ज़िंदगी के पीछे, क़दम-दर-क़दम। मैंने सोचा भी नहीं था, पिता इस तरह भी सोच सकते हैं।

"ग़द्दार?" मैं बुदबुदाया, जैसे गहरे दुख से भर उठा होऊँ, जैसे पिता की सोच पर अफ़सोस हुआ हो मुझे, और किसी शरीफ़ इज़्ज़तदार आदमी की टोपी उछाल दी हो किसी ने। सरे-आम। सरे-बाजार।

"हाँ," पिता ने दृढ़ता से कहा, "अपनों को धोखा देना ऐसी ग़द्दारी है जिसका कोई प्रायश्चित भी नहीं होता।"

"क्या?" मैं थर-थर काँपने लगा। ठंड लगने लगी थी मुझे एका-एक। मैं अपने सामने खड़ा काँप रहा था। अपने को थर्ड परसन की तरह अलग खड़ा देखता हुआ। झेलता हुआ।

वे जा रहे थे। अँधेरे के पार। कमरे में सोते अपनों के बीच जिनके सपने 'उसे' पूरे करने थे, पर 'वह' ग़द्दारी कर गया था। बेगानों की तरह। संगदिल। अब? 'उसने' सोचा। सिर्फ़ यही बताने के लिए आठ बजे सो जाने वाले पिता रात के साढ़े-बारह बजे तक जागते रहे थे। सिर्फ़ एक ही वाक्य से कोई पिता अपने पुत्र को आत्मग्लानि के दलदल में कैसे फेंक देता है? पिताओं में इतनी दृढ़ता कहाँ से आती है? ऐसा क्यों होता है कि आदमी अपनी निष्ठा के बावजूद सब जगह ग़लत, ग़द्दार और अपराधी होता जाता है?

मैंने अपनी कनपटी सहलायी, जो चट-चट कर रही थी। मैंने 'उसे' देखा।

'वह क्या करे? कहाँ जाये? पिता अपनों के बीच चले गये थे। वह अपनों से अपने लिए ग़द्दार शब्द सुनकर आया है और आते ही पिता ने भी उसे ग़द्दार कहकर मुक्ति पा ली है। उसकी मुक्ति कैसे होगी?'

मैं सोच रहा हूँ अपने को थर्ड परसन मानकर। स्वयं को थर्ड परसन मानकर सोचने से सबके प्रति न्याय होता है, ऐसा मैंने सुना है, पर थर्ड परसन पर फ़र्स्ट परसन बेतरह लदा हुआ हो तब?

मेरे साथ ऐसा ही होता है। मैंने पार्टी-कॉमरेड को बताया कि मेरी क्षमताएँ पोलीटिकल फ्रंट पर नहीं, लिटरेरी फ्रंट पर अधिक उपयोगी साबित होंगी। वह बिफर गया। मैंने उसे समझाया। पार्टी की ज़िला समिति की उस आवश्यक बैठक में उपस्थित सभी कॉमरेड्स को समझाया, पर वे असहमति में गरदन हिलाते रहे। मैंने कहा, "मैं अपनी जेब में पिस्तौल रखकर चेग्वेवारा जैसे गुरिल्लापन से दुश्मन पर हमला बोलने में असमर्थ हूँ। मुझसे पैंफ़लेट लिखवा लो। मैं क्रांतिकारी भावना से ओत-प्रोत नुक्कड़ नाटक लेकर अपनी मंडली के साथ गाँव-गाँव प्रदर्शन करता हूँ। यह भी इंपॉर्टेंट मोर्चा है।"

उन्होंने जवाब दिया, "तुम डरपोक हो, सुविधाजीवी हो, मध्यवर्गीय टुच्चेपन से मुक्त नहीं हो सके हो।"

"यह गाली है। डायरेक्ट अटैक है और बिरादराना भी नहीं है।" मैंने चीख़कर कहा। मुझे खाँसी आ गयी थी।

"शटअप!" वे दहाड़े थे।

"मैं पार्टी छोड़ दूँगा।" मैंने धमकी दी थी।

"छोड़ दो। ग़द्दारों की हमें ज़रूरत भी नहीं है।"

"ग़द्दार?" मैंने चीख़ते आश्चर्य में कहा था और दुख से भर उठा था। लबालब।

ग़द्दार। मेरा थर्ड परसन जाग गया था और न्यायपरक विश्लेषण करने में जुट गया था। 'वह ग़द्दार है? वह, जो पार्टी, जनता, क्रांति और जनहितों की ख़ातिर निजी रिश्तों को तज कर 'होलटाइमर' बना घूम रहा है। भूखा-प्यासा, दर-दर के फ़कीर-सा। हिंदी और अंगरेज़ी, दो-दो विषयों में फ़र्स्ट क्लास एम० ए०, लेक्चररशिप पर लात मारकर जो क्रांति के जुनून में निजी ज़िम्मेदारियों से कतरा आया है, वह ग़द्दार है? ग़द्दारी क्या होती है, कॉमरेड्स?' थर्ड परसन सोच रहा है और मैं दुख में डूबी उसकी सोच के ग़लत दिशा में मुड़ उठने की आशंका से

भयाक्रांत मीटिंग छोड़ चला आया था। हालाँकि आज घर जाने का प्रोग्राम शिड्यूल में नहीं था।

वे नासमझ हैं। उत्साह के अतिरेक ने उन्हें विवेकशून्य कर दिया है। मैं पार्टी नहीं छोड़ूँगा। मैंने घर के पिछवाड़े की नीची दीवार पर चढ़ते हुए फ़ैसला ले लिया था और नीचे कूद गया था। नीचे, जहाँ पिता खड़े मिले थे, ग़द्दारी शब्द को अर्थ-सहित लेकर।

मैं क्या करूँ ? वापस लौट जाऊँ नासमझों के बीच और ज़िबह हो जाऊँ, या पिता से जाकर पूछूँ कि प्रायश्चित की राह सुझाओ परवर-दिगार ! बच्चे के अपराधों को क्षमा करो ! क्षमा वड़न को... ।

मैं कुछ नहीं कर सका हूँ और असमंजस की स्थिति में घिसटता हुआ दो कमरों वाले घर के दूसरे कमरे में घुस पड़ा हूँ, जहाँ ज़मीन पर बिछे बिस्तरों पर पाँच भाई-बहन ज़माने-भर के दुखों से अप्रभावित, प्रेम से सो रहे हैं। मैं कहाँ सोऊँ ? कहाँ सो सकता हूँ मैं ? अपनों के बीच में बेगाना व्यक्ति दख़लंदाज़ी करे तो कैसे ? ये अपने बेगाने और बेगाने अपने कैसे, कब और कहाँ हो जाते हैं और क्यों ?

'दस्वीदानिया।' मैं 'फिर मिलेंगे' का रूसी शब्द बोलकर पुनः कमरे से बाहर आ गया हूँ और यह लो...।

दर्शक स्तब्ध। पाठक परेशान। कूदने वाली आकृति वापस दीवार पर चढ़ रही है बाहर कूदने के लिए। यह चढ़ी और कूदी। पटाक्षेप।

ऐसे घटता है जीवन। कहानी, उपन्यास और नाटक की सीमाओं को नकारता हुआ। प्रचलित फ्रेम तोड़ता हुआ। पात्रों की गतिविधि किसी निर्देशक, किसी कथाकार और किसी उपन्यासकार की इच्छा और सनक से संचालित नहीं होती जीवन में। अगर जीवन इच्छाओं और सनकों से संचालित होने लगता तो ऐसा न होता कि मैं बार-बार ग़लत हो जाता। हाँ, मेरे साथ ऐसा ही होता है।

होता रहा है। मैं सोचता हूँ, मैं यह काम नहीं करूँगा और सोचने के तुरंत बाद मैं उस काम को पूरा करने के लिए युद्ध-स्तर पर सक्रिय हो उठता हूँ। कुछ इस ईमानदारी, इस निष्ठा के साथ गोया यह मेरा और

केवल मेरा ही काम है। मुझे लगता रहता है, मैं ग़लत हूँ और मैं ठीक होता हूँ। मुझे लगता है, मैं ठीक हूँ और परिस्थितियाँ मुझे ग़लत साबित कर देती हैं। मैं सोचता हूँ, मेरा होना अब कोई अर्थ नहीं रखता, मगर परिस्थितियाँ और लोग तमाम-तमाम अर्थ निकालने लगते हैं। मैं परिस्थितियों और लोगों और लगावों और अरुचियों और दुखों और सुखों के हाथों नियंत्रित होता रहता हूँ। मुझे कोई भी अपना इश्तहार बना लेता है। मेरी ना-ना के बावजूद कोई भी नर या मादा अपनी इच्छाओं, अपनी तमन्नाओं और अपनी रुचियों के तहत मेरा इस्तेमाल करने लगता है। मेरा विरोध धरा रह जाता है। मेरी इच्छाएँ अतृप्त रह जाती हैं। मेरे सपने बीच नींद में तड़क जाते हैं। मेरी भावनाएँ अनसहलायी रह जाती हैं। मेरा दुख अनबूझा रह जाता है।

मेरा सुख कोई छीनकर ले गया है।

मेरी तमाम महत्वाकांक्षाएँ यक-ब-यक मर गयी थीं। मेरा सुख कौन ले गया? और उसका सुख? जिसका लंबोतरा, तंग-सा चेहरा सहसा ही रुआँसा हो आया था। यह रुआँसापन दुख से नहीं, ऊब से और वितृष्णा से पैदा हुआ था। अधिक मात्रा में पी लेने के बाद उसका चेहरा ऐसा ही हो जाता था और वह आसपास के पूरे माहौल से कटकर यक-ब-यक किसी दूसरी दुनिया में उतर जाता था। दूसरी दुनिया, जिसे वह अपना काउंटर-वर्ल्ड कहता था। वहाँ से उसकी वापसी अब जल्दी ही संभव नहीं थी। दारू पीने के बावजूद उसके इस प्रस्थान से मेरे दिमाग़ में अनायास ही एक अनजान ख़तरे ने अपना सिर उठा लिया।

यह सरदियों के संगदिल दिनों की कठिन रात थी और रात के साढ़े-दस तब बजे थे जब हमने काउंटर से बोतल ख़रीदते समय सेल्समैन की रिस्टवाच पर नज़र डाली थी। यूँ ही। क़ायदे से ठेका साढ़े-दस बजे बंद हो जाता था मगर फिर भी, ग्यारह बजे तक ग्राहकों को ठेके की कैंटीन में बैठने की अनुमति मिली ही रहती थी। लेकिन अब, शायद घड़ी की सुइयाँ ग्यारह को पार करके काफ़ी आगे आ चुकी थीं। कैंटीन में हम दोनों के अलावा कोई नहीं था। शायद कैंटीन के बाहर भी कोई नहीं

होगा, क्योंकि शहर वापस ले जाने वाली सिटी-वस का अंतिम समय ग्यारह पाँच होता है। सेल्समैन और उसके गुर्गे अपने पूरे दिन का हिसाव-किताव निपटाकर और शायद दो-दो पैग गले में उतारकर, खिड़की वंद कर चुके थे। अव वे कैंटीन वंद करेंगे और घर चले जायेंगे। वे सव 'लोकल' थे, मगर हमें पंद्रह किलोमीटर दूर शहर जाना था और वह अपने काउंटर-वर्ल्ड में चला गया था।

मेरा नशा हिरन हो चुका था और तमाम-तमाम आशंकाओं ने मुझे 'शटल काक' की तरह उछालना शुरू कर दिया था। मैं कभी इधर गिरता था, कभी उधर और कभी 'नेट' में जा फँसता था।

वे हमारी तरफ़ आ रहे थे। मुझे रोना आ गया। यह शहर का सवसे कुख्यात अड्डा था और शहर से पंद्रह किलोमीटर दूर निविड़ एकांत और जंगली सुनसान में स्थित होने के कारण यहाँ घटी कई दुर्घटनाएँ अखबार की ख़वर तक नही वन पाती थीं। यहाँ जो कुछ होता था, हत्या या वलात्कार, उसका होना तभी तक था जव तक वह होता था। हो जाने के वाद तो वह स्मृति तक भी नहीं वन पाता था। एक आसन्न संकट से परास्त होने का अनिवार्य परिणाम उस घनघोर ठंड में भी मेरे चेहरे पर माथे पर पसीने की शक्ल में उतर आया और मेरी चेतना में भय की आकृति नियॉन लाइट-सी जलने और वुझने लगी। वह अभी तक, उसी मुद्रा में, अपने लंवोतरे चेहरे पर गहराई में धँसी छोटी आँखों को पलक झपकाये वग़ैर, शून्य में टिकाये हुए था। किसी भी वारदात के प्रति निर्मम तरीक़े से वेपरवाह। वेख़वर।

वे हमें घेर चुके थे। अपने मज़वूत गुंडई जिस्मों, वदमाश हाथों और शातिर आँखों के साथ वे हमारे ऐन सामने खड़े थे। हमारे ही लिए। मुझे मालूम था, इन लोगों के लिए हत्या या मारपीट मजवूरी नहीं, शौक-भर होता है और इतना सोचते ही मैं चीख पड़ा। मेरे चीख़ पड़ने से वे मुसकरा उठे और वह मेरे लंवोतरे चेहरे वाला दोस्त हड़बड़ाकर प्रकाश की-सी गति से वापस लौट आया। क्षणांश-भर में वह मामले की तह में पहुँच गया था शायद, इसीलिए वह मेज़ पर हाथ टिकाकर उठा, मगर नशे के आधिक्य ने उसे फिर लुढ़का दिया। उसके लुढ़क पड़ने से मेज़ पर

रखी खाली बोतल चकरायी और ज़मीन पर गिरकर, उस सुन्न चुप्पी को कर्कश आवाज़ में भंग कर टूट गयी। बिखर गयी। उसने दुख-भरी नज़रों से चूर-चूर बोतल को देखा, उन्हें देखा, मुझे देखा और डूबती-सी आवाज़ में बोला, "मैं तोशी का दोस्त हूँ...प्लीज़, मुझे उसके घर पहुँचा दो।"

तोशी ? तोशी कौन ? मैं घबरा गया। मैं किसी तोशी को नहीं जानता था। मैंने आँखें बंद कर लीं और पिटने की प्रतीक्षा करने लगा। अब कुछ भी हो सकता था। वे हाथ-पाँव तोड़कर किसी पहाड़ी से नीचे फेंक सकते थे या...।

मगर वे तोशी को जानते थे और इस जानने का सुबूत उन्होंने यह दिया कि मेरे दोस्त की जेबों की तलाशी ले डाली। तुरत-फुरत। जेबों में कागज़ के कुछ पुर्ज़ों, कलम, रेज़गारी और दस-दस के नोटों के अलावा और कुछ भी नहीं निकल सका जो उन्हें इस बात का प्रमाण देता कि हम लोग वास्तव में तोशी के दोस्त हैं।

"तोशी के सारे ही दोस्त तमंचाधारी नहीं हैं।" सहसा ही मेरे दोस्त ने खिन्न स्वर में कहा, "अगर आप लोगों को यक़ीन न हो तो...।"

पर मेरे दोस्त की बात अधूरी ही रह गयी। उनमें से एक ने अचानक एक ज़ोरदार झापड़ मेरे दोस्त के चेहरे पर जड़ दिया और उसे उठाकर कैंटीन से बाहर पथरीली सड़क पर फेंक दिया। मैं जब तक कुछ समझ पाता तब तक मैं भी सड़क पर गिर चुका था और सड़क पर फेंके जाने की चोट से नहीं, बल्कि अपमान से कुंठित होकर बिखर-बिखर रहा था।

'माँ की चूत हिंदी साहित्य की !' मेरे भीतर एक कोने में दुबके दबंग अतीत ने फुफकारकर सोचा। वे ठेके का ताला बंद कर रहे थे और मेरे अंदर भूतपूर्व छात्रसंघ-अध्यक्ष खुद ही से लड़-लड़कर ज़ख़्मी हुए जा रहा था। वे तीनों ठहाके लगाते हुए लगातार दूर जा रहे थे और मैं अपने दोस्त की दुर्दशा के प्रति एकदम अपराधी-सा होकर अफ़सोस और दुख और अपमान के दलदल में धँसता जा रहा था। आखिर मैं उठा। उस तीखी ठंड और उखड़े हुए नशे और अँधेरे सुनसान में घुटनों और हथेलियों के बल पथरीली सड़क पर पड़े अपने दोस्त की स्थिति ने सहसा ही मुझे

दुनिया के तमाम बेहूदे और नासमझ लोगों के प्रति एक गहरे वितृष्णा-भाव से भर दिया। ठंड और घृणा से काँपते हुए यक-ब-यक मैं ठहाके लगाकर हँस पड़ा। मुझे अचानक याद आया था—यह दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है?

"उठो, जीनियस!" मैं गहरे दुख से अपनी आवाज़ बाहर लाकर बोला था, "मुझमें इतनी ताक़त नहीं है कि मैं तुम्हें अपने कंधे पर लादकर पंद्रह किलोमीटर दूर तुम्हारे घर ले जा सकूँ। उठो, वरना इस पहाड़ी-बर्फ़ानी ठंड में एक जीनियस गुमनाम मारा जायेगा और बेवजह भी।"

"आह!" दोस्त ने खड़े होने की कोशिश की और लहरा कर मेरे कंधे पर टिक गया। अब मैं चौंका। कोई चिपचिपा-सा द्रव्य मेरे गले पर टपका था। मैंने तुरंत माचिस जलायी। यह खून था, जो दोस्त के सिर से टपक रहा था। शायद सड़क पर फेंके जाते समय उसका सिर पथरीली सड़क से टकराकर फटा था।

"उफ़!" दोस्त ने मेरे कंधे से सिर हटाकर कहा, "मुझे एक सिगरेट दो।"

मैंने सिगरेट जलाकर एक कश लिया और उसके होंठों में लगा दी। फिर अपने लिए मैंने नयी सिगरेट जलायी।

"अब?" दोस्त ने सिगरेट के तीन-चार कश खींचकर आहिस्ता से पूछा।

मैं चुप रहा। मेरे पास जवाब नहीं था। चुपचाप सिगरेट पीता रहा। अगर आधा-पाव शराब भी मुझे इस वक़्त मिल सकती तो मैं दोस्त को सहारा देकर शहर चलने की बात सोच सकता था। मौजूदा स्थिति में पंद्रह किलोमीटर पैदल जाने की न तो मुझमें हिम्मत थी, न इच्छा। सिगरेट का अंतिम कश लेकर दोस्त ने दृढ़ता से कहा, "आओ", और लड़खड़ाता-सा ऊपर जाती एक सँकरी पगडंडी पर चढ़ने लगा। मुझे उसकी दिलेरी पर वाक़ई अचंभा हुआ और मैं उसके पीछे-पीछे, मगर उसे थामे हुए घिसटने लगा। काफ़ी ऊँचाई पर चढ़ने के बाद वह बायीं तरफ़ मुड़ गया। अब एक ढलवाँ सड़क सामने थी जिसके दोनों ओर मकान बने हुए थे। इस ढलवाँ सड़क पर देर तक उतरते रहने के बाद वह एक

टूटे-फूटे ढहे-से मकान में प्रवेश कर गया। इस खँडहर में क़रीब पंद्रह क़दम चलने के बाद वह एक खपरैलों वाली झोंपड़ी के बाहर रुक गया। झोंपड़ी का दरवाज़ा बहुत छोटा था। बिलकुल खिड़की जैसा। उसने दरवाज़े पर लगी कुंडी ज़ोर से खड़कायी। कुंडी की कर्कश आवाज़ गूँजते ही दूर कहीं कोई कुत्ता भौंकने लगा। उसके बाद कई कुत्तों के भौंकने की आवाज़ें उस मनहूसियत-भरे सन्नाटे को तोड़ने लगीं। मैं एक अजीब-से तिलिस्मी रोमांच में जकड़ा हुआ सुन्न था। तभी झोंपड़ी का खिड़की-नुमा दरवाज़ा चरमराया और चौपट खुल गया। अन्दर कोई बहुत बूढ़ी स्त्री हाथ में लालटेन लिये खड़ी थी। चुपचाप। हैरान। वह कोई तिब्बतन बूढ़ी थी जिसका वीतरागी चेहरा उसके द्वारा झेले दुखों का साफ़-साफ़ भान करा देता था। 'दुखों का आधिक्य आदमी को एक अजीब प्रतिरोधी तरीक़े से तटस्थ कर देता है,' यह बात उस बूढ़ी तिब्बतन का चेहरा देखते ही मेरी चेतना में कौंधी और जम गयी।

"शराब खत्म हो चुकी है।" बूढ़ी औरत के होंठ हिले और वह दरवाज़ा बंद करने का उपक्रम करने लगी।

"मैं विनोद हूँ, ममा!" दोस्त ने बेहद मुलायम स्वर में कहा।

"कौन विनोद?" बुढ़िया ने याद करने की कोशिश की, पर शायद उसे याद नहीं आया। परेशानी और दुख के-से भाव उसकी झुर्रियों में फैलने-सिकुड़ने लगे।

"शोमो जानती है।" दोस्त ने संक्षिप्त उत्तर दिया और चुप हो गया।

"आ जाओ।" बुढ़िया ने अपनी काँपती-टूटती आवाज़ में कहा और एक तरफ़ हट गयी। अंदर घुसते हुए मैंने ग़ौर किया, बुढ़िया के एक हाथ में लालटेन और दूसरे में रंगीन मनकों की माला थी, जिसके एक-एक दाने को वह लगातार उँगलियों के स्पर्श से गिनती जा रही थी। बुढ़िया ने लालटेन नीचे रखी और दरवाज़ा बंद करने लगी।

"कौन है?" तभी अंदर से ऊँघता-सा स्त्री-स्वर आया और दूसरे ही क्षण एक तिब्बती लड़की प्लाइवुड के पार्टीशन को पार करके हमारी तरफ़ आ खड़ी हुई। दो पुरुषों को इस समय देखकर उसका नींद में

खोया चेहरा विस्फारित हो आया था। लड़की के चपटे अचंभित चेहरे, अंदर धँसी छोटी-छोटी आँखों, पतली मगर फैली-सी नाक, घुटनों तक के काले गंदे स्कर्ट और मज़बूत नंगी पिंडलियों पर से क्रमशः गुज़रता हुआ मैं दोस्त को ताकने लगा, जिसका चेहरा अंधकार में डूबा हुआ था। इतने में वुढ़िया लालटेन लेकर आयी और लड़की को पकड़ाकर ख़ुद माला के मनके गिनती हुई भीतर चली गयी।

"आख़िरी वस छूट गयी है, इसलिए आना पड़ा।" दोस्त ने कैफ़ियत-सी दी, लेकिन मैं उसके अधिकारपूर्ण स्वर को सुनकर ताज्जुब में आ रहा था।

"क्या थोड़ी-सी शराव और रात-भर के लिए थोड़ी-सी ही छत...?"

"पर यह ठीक तो नहीं है न?" तिब्बतन लड़की ने रुक-रुककर संकोच के साथ जवाव दिया।

"ठीक तो कुछ भी नहीं है—तुम्हारा शराव वेचना, मेरा पीना, ठेकेवालों की गुंडागर्दी, लोगों की जहालत, जनता की ग़रीवी, और भी पता नहीं क्या-क्या। कुछ भी तो ठीक नहीं है।" दोस्त ने मज़ाकिया टोन में कहा। फिर गंभीरता से वोला, "पिछले पाँच वरस से तुम्हारे घर आकर शराव पीने वाला एक शरीफ़ ग्राहक तुम्हारे घर के वाहर ठंड से अकड़कर मर जाये, यह ठीक होगा क्या?"

"तुम ग्राहक हो?" लड़की दुख से भर उठी अचानक।

हूँ! आश्चर्य की एक सनाकेदार लहर झन्न से मेरे वदन में दौड़ गयी।

"शायद...," दोस्त ने टका-सा जवाव दिया, "वरना पाँच वरस का परिचय इतना शंकालु नहीं होता।"

"मगर मैं फिर भी कहूँगी, यह ठीक नहीं है।" लड़की ने कंधे डाल दिये, "मगर तुम क्यों समझोगे? तुम समझते तो...?" लड़की ने वात अधूरी छोड़ दी और लालटेन दोनों कमरों की दहलीज पर रखकर भीतर चली गयी। अव लालटेन की रोशनी दोनों कमरों में तक़सीम हो रही थी। मैं सन्न था और दोनों पक्षों द्वारा न वोले गये संवादों के अर्थों की तह में उतरने की कोशिश कर रहा था।

जब वह लौटी तो उसके एक हाथ में प्लास्टिक का जग और दूसरे में काँच के दो गिलास थे। उन्हें लालटेन के पास रखकर वह फिर भीतर चली गयी। इस बार लौटने पर उसके हाथ में भुने हुए चनों की छोटी-सी मोमजामे की थैली थी और दूसरे हाथ में रूई का बड़ा-सा टुकड़ा। वह फिर अंदर गयी और वापसी में एक गद्दा और कंबल ले आयी। दोनों को ज़मीन पर ही डाल वह फिर अंदर गयी और एक खाट उठा लायी। खाट बिछाकर वह बोली, "फ़िलहाल तो इसी शराब का फाहा अपने सिर के ज़ख्म पर रखना। सेप्टिक नहीं होगा। कल सुबह पट्टी ज़रूर करा लेना। ठेकेवालों ने पीटा होगा। है न! रात-बिरात क्यों आते हो इधर? पता नहीं, कहाँ-कहाँ भटकते फिरते हो? पता नहीं, क्या चाहिए तुम्हें?" वह कहती जा रही थी लगातार और बिस्तर बिछा रही थी, "दोनों इसी पर सोना। भूख हो तो डबलरोटी ला दूँ...शराब के साथ खा लोगे? नहीं न, तुम कहाँ खा पाओगे? तो फिर?" उसने दोस्त से प्रश्न किया और स्कर्ट की जेब से सिगरेट निकालकर जलाने लगी। सिगरेट का कश लेकर उसने कहा, "अब मुझे नींद नहीं आयेगी। तुम्हें यहाँ आकर इस तरह नहीं रुकना चाहिए था।"

"मगर क्यों? क्या मैं यहाँ आकर शराब पीने वाले तुम्हारे जुआरी, फ़सादी और गुंडों से ज़्यादा गया-गुज़रा या बुरा आदमी हूँ?" दोस्त सहसा ही चिढ़कर बोला और मैं घबरा गया कि कहीं यह लड़की इस खतरनाक ठंड में हमें बाहर न निकाल दे।

"तुम सबसे अच्छे हो।"

"तो फिर?"

"कुछ नहीं। सब्ज़ी बना दूँ? डबलरोटी है ही।"

"शुक्रिया," दोस्त ने कहा, "अब तुम जाओ। मैं इस रात के लिए तुम्हें याद रखूँगा।"

"मैं भी।" लड़की ने जवाब दिया और पार्टीशन के उस तरफ़ अपने हिस्से में जाने लगी। सहसा ही वह रुकी और मुड़कर बोली, "मगर जिसे तुम अपना नहीं सकते उसे ज़िंदगी-भर याद आने या याद रखने का हक़ तुम्हें क्यों है?"

मैंने चौंककर देखा। उसकी आँखों में आँसू थे। लड़की के आँसुओं से बेचैन होकर मैंने दोस्त को देखा—वह कच्ची शराब का जग मुँह से लगाकर पागलों की तरह पीये जा रहा था। गट, गटागट, गट।

"अरे!" मैंने दोस्त के हाथ से जग छीन लिया और फिर लड़की की तरफ़ देखा। मगर लड़की वहाँ नहीं थी। दोस्त जूते उतारकर बिस्तर में घुस गया था। मोज़ों समेत। मैं हवन्नकों की तरह मुँह बाये खड़ा था। कुछ देर उसी तरह खड़े रहने के बाद मैं चारपाई की बाही पर बैठ गया और शराब का एक गिलास भरकर उसे चाय की तरह सुड़कने लगा। लालटेन उसी तरह बीच में रखी थी। दो गिलास शराब पीकर मैं लालटेन की लौ नीची करने उठा और यह देखकर, नशे में भी दंग रह गया कि पार्टीशन के दूसरी तरफ़, उस भयानक ठंड में एक छोटी-सी खरहटी खाट पर वह बूढ़ी तिब्बतन लेटी सो रही थी और ठंड से बचने के लिए उसने एक कंबल ओढ़ा हुआ था। लड़की एक आरामकुरसी पर अपनी टाँगों को दोनों हाथों से बाँधे हुए बैठी थी और उसी स्थिति में अधसोयी-सी थी। उसने खुद को एक चादर से लपेटा हुआ था। केवल।

मेरा नशा टूटने लगा। मैंने लालटेन की लौ नीची कर दी और जूते उतारकर दोस्त के पास आ गया। वह खर्राटे लेकर सो रहा था और उसका मुँह बहुत असभ्य तरीक़े से खुला हुआ था। मैंने चिढ़कर उसका मुँह बन्द कर दिया और अपने को पूरी तरह कंबल से ढँककर लेट गया। सहसा ही मुझे ज़ोरों से रुलाई छूटने लगी और मैं काँपने लगा। पता नहीं, दुख से या ठंड से। जब मुझे लगा कि रुलाई छूटेगी ही तो मैं उठा और जग में बची बाक़ी शराब को एक ही बार में खत्म करके औंधे मुँह चारपाई पर गिर पड़ा। मगर इसका असर उलटा ही हुआ। नशे में गहराई तक डूबते-डूबते भी मेरे कानों ने मेरी सिसकियों को सुन ही लिया।

मैं सिसकियाँ भर-भर कर रो रहा था। रोये जा रहा था।

मैं सोच रहा हूँ कि यह जो मैं शराबी-कबाबी दोस्तों के साथ गुज़री बरबाद रातों, छात्रों की हड़तालों; मजदूरों के जुलूसों, बौद्धिकों के स्वप्नों, क्रांतिकारियों के भाषणों, अभावों के दुखों, दुखों की भाषा और भाषा

के आंदोलनों से होकर लेखन को छोड़ना क्रांति को अपनाना, क्रांति को छोड़ता प्रेम को पकड़ता, प्रेम से मुक्त होता शराब में डूबना। शराब से निकलता थियेटर में घुसता, थियेटर से भागता नौकरी को ढूंढ़ता, नौकरी को छोड़ता शहरों में भटकता, लोगों में जाता, लोगों से आता, हज़ार-हज़ार लगावों, परेशानियों और कुंठाओं में डूबता-उतराता हुआ आख़िरकार एक बेहद सहनशील औरत का पति और बेहद नकचढ़े बदतमीज़ मालिक का नौकर बनकर राजधानी के बहिष्कृत लोगों के इलाक़े में तंग-अँधेरे कमरे की दबोचती दीवारों के बीच दिसंबर की ठंड में दो किलो रुई के लिहाफ़ में काँपता हुआ खाना बनने के इंतजार में पड़ा हूँ—इसका क्या मतलब है? इसका नहीं, इस सबका क्या मतलब है?

और कमरे के एक कोने में घर्र-घर्र की आवाज़ करते और भूं-भूं कर धुआँ छोड़ते स्टोव पर आँखें रगड़ते हुए मेरी बीवी खाना बनाते-बनाते कह रही है, "सच में, और कुछ भी हो, पर ये पंजाबी लोग खिलाने-पिलाने के मामले में बहुत सावधानी और अपनत्व बरतते हैं।" मैं सहसा ही हँस पड़ता हूँ और वह चौंककर कहती है, "क्यों, क्या हुआ?"

"कुछ नहीं," मैं हँसता रहता हूँ लगातार और सोचता हूँ, दुनिया में इतने सारे रहने वालों के रहते हुए भी आदमी अकेला क्यों रह जाता है?

"मैं कितनी अकेली पड़ती जा रही हूँ," पत्नी रोटी बेलना रोककर यकायक कहती है, "मैं तुम्हारे दुखों को समझती नहीं हूँ, यह ठीक है, मगर तुम तो मेरे दुखों को जानना तक नहीं चाहते।"

जैसे उछलकर कोई बिल्ली कनपटी पर धाड़ से लगे। मैं तिलमिलाकर उठ बैठता हूँ और चीखकर पूछता हूँ, "क्या? क्या कहा तुमने?"

वह जवाब नहीं देती। स्टोव में पंप मारने लगती है और मैं स्टोव की क्रमशः ऊँची होती सी और तेज होती आवाज को महसूस करता हुआ सोचता हूँ, यह कौन-सा बिंदु होता है जहाँ से आदमी की संतुष्टि प्रारंभ होती है? ऐसा कोई बिंदु होता भी है क्या? अगर नहीं होता तो दुनिया के इतने सारे लोग सुखी-संतुष्ट जीवन कैसे बिताते चले जा रहे हैं—लगातार? या कोई भी संतुष्ट नहीं है? क्या सब [illegible] असंतुष्ट,

आत्मप्रवंचना और आत्मदया ही फैली हुई है ? मैं सोचता हूँ और भागता हूँ। भागता हुआ मैं फिर मंडी हाउस के उस चौराहे पर जा खड़ा होता हूँ जो दरअसल सतराहा है और जहां कुछ ही घंटे पहले मैं ड्रामा-स्कूल की थर्ड ईयर की स्टुडेंट अनुराधा कुलकर्णी को अपने नाटक 'प्रेत' का थीम सुना रहा था और ठंड में कांप रहा था।

"प्रेत ?" अनुराधा कुलकर्णी थीम सुनकर एक कातर दुख में डूबकर मुसकरायी थी।

"हाँ !" मैंने सिगरेट सुलगाकर गहरा कश खींचा था और अपना विश्वास क़ायम रखने की कोशिश में जुट गया था।

"यह तुम्हारा विश्वास है ?"

"ऑफ़ कोर्स।"

"मैं यह प्ले हाथ में नहीं लूंगी।"

"इसमें ग़लत क्या है ?"

"इसमें सब-कुछ ग़लत है।" अनुराधा कुलकर्णी इतने ज़ोर से चीखी कि सामने की दुकान पर चाय पीते तीन-चार लड़कों को हमारी तरफ़ देखना पड़ा। थियेटर की दुनिया में 'एक्सपेरिमेंटल प्लेज़' को साधिकार और साहसपूर्ण ढंग से मंच पर स्टेज करने में निपुण और विख्यात डायरेक्टर अनुराधा कुलकर्णी उस समय चारमीनार का तंबाकू मसलकर हथेली पर निकाल रही थी और एक गहरी रहस्यमयता लिये चुप थी। मैं सिगरेट पीते हुए चुपचाप घूर रहा था उसे। उसकी बेचैनी और दुख को मैं महसूस कर रहा था, मगर विवश था। उसके लिए कुछ नहीं कर सकता था।

उसने सिगरेट के तंबाकू में चरस की छोटी-सी काली टिकिया माचिस से जलाकर मिला दी और उस मिश्रण को खाली सिगरेट में भरने लगी। मैं देखता रहा और सोचता रहा कि अगर यह मेरी बीवी होती तो मैं इस समय क्या करता ? सिगरेट भरकर उसने होंठों में दबायी। माचिस की तीली जलाकर उसे सुलगाया और लगातार तीन गहरे कश खींचकर उत्तेजना और दुख और क्षोभ से थरथराती हुई बोली, "यह तुम्हारा विश्वास है ?"

मैं सहसा ही विचलित हो गया। लाख चाहने पर भी मैं पहले की तरह 'ऑफ़ कोर्स' नहीं कह सका।

"तुममें और उस बेवकूफ़ डायरेक्टर सपन बोस में क्या फ़र्क है जो झोंपड़ी के बाहर दोनों तरफ़ गेरू से लिखे राम-राम को अपने डायरेक्शन में इसलिए मिटा देता है कि इससे उसकी वामपंथी सोच का तालमेल नहीं बैठता!"

"मतलब?"

"मतलब यह कि स्क्रिप्ट में राइटर ने एक ग़रीब किसान की झोंपड़ी के बाहर दोनों तरफ़ गेरू से राम-राम लिखा दिखाया है, मगर सपन बोस उस नाटक को स्टेज करते समय राम-राम को साफ़ कर देता है। यह बेवकूफ़ी नहीं तो क्या है?"

"है। मगर इसका मेरे नाटक से क्या संबंध है?"

"संबंध है।" अनुराधा कुलकर्णी ने एक गहरा कश लिया और तनिक तेज़ आवाज़ में बोली, "तुमने क्या चीज इस्टैब्लिश की है? तुम...तुम...," अनुराधा कुलकर्णी काँपने लगी और चुप हो गयी। फिर उसने भरी हुई सिगरेट का अंतिम कश खींचा और सिगरेट फेंककर बोली, "चाय पिला सकते हो?"

"श्योर!" मैंने जवाब दिया और उसका हाथ पकड़कर सड़क क्रॉस करने लगा। उसने अपना सारा बोझ मेरे कंधों पर डाल दिया था और लड़खड़ाती-सी मेरे साथ-साथ बंगाली मार्केट की तरफ़ बढ़ रही थी। पूरे रास्ते हम दोनों के बीच एक आहत मौन पसरा रहा। वह पता नहीं क्या-क्या सोच रही थी, मगर मैं केवल एक ही बात सोचे जा रहा था कि अगर यह मेरी बीवी होती तो?

"तुम्हें अपनी ही तरह की किसी लड़की से शादी करनी चाहिए थी। तब तुम खुश रहते। है न?"

"क्या?" मैं चौंक पड़ा और मैंने देखा कि सामने अनुराधा कुलकर्णी नहीं, मेरी पत्नी खड़ी थी। हाथ में खाने की थाली लिये।

"नहीं।" मैंने चीखकर कहा, "मेरा सुख तुम्हीं हो।" मैंने पत्नी के हाथ से थाली लेकर बग़ल की कुरसी पर रख दी और पत्नी को झटके से

अपने ऊपर खींचकर गिरा लिया। पत्नी हक्की-बक्की रह गयी थी। मैंने उसके दोनों स्तनों के बीच सिर रखकर आर्द्र स्वर में फिर कहा, "सचमुच, तुम्हीं मेरा सुख हो। केवल तुम।"

सहसा ही पत्नी मेरे गले से लिपट गयी और सिसकियाँ भरकर रोने लगी। पत्नी को प्यार से सहलाने की इच्छा मेरे मन में उठी पर अफ़सोस, मैं फिर अनुराधा कुलकर्णी के सामने जा बैठा जो बंगाली मार्केट के उस गहमा-गहमी वाले रेस्तराँ के कोने वाली मेज़ पर मेरे ऐन सामने बैठी एकाएक सिसकियाँ भरने लगी थी। "अरे!" मैं बौखलाकर खड़ा हो गया था, "तुम नशे में आ रही हो!" मैंने उसका कंधा झकझोरकर कहा।

"शटअप!" अनुराधा कुलकर्णी अचानक इतने जोर से दहाड़ी कि लोगबाग हमारी तरफ़ घूरने लगे।

"क्या बदतमीज़ी है?" मैंने भी चीखकर कहा और खड़ा हो गया।

"तुम्हारा नाटक बदतमीज़ी नही है?" अनुराधा कुलकर्णी भी खड़ी हो गयी और शब्दों को चबाकर खूँखार लहजे में फुफकार उठी, "तुम थियेटर, राजनीति और साहित्य के तमाम एंग्री यंगमेंस को अपने नाटक में प्रेत बताते हो...उन्हें आवारा, ग़ैर-ज़िम्मेदार और दिशाहीन कहते हो...तुम...तुम...दो कौड़ी के लेखक, दसेक बेहूदी कहानियों और दो-एक नुक्कड़ नाटकों के दम पर तमाम जीनियस लोगों पर बेहूदा कमेंट करने का अधिकार कैसे ले लेते हो? क्या हो तुम और क्या है तुम्हारी समझ? दुनिया के तमाम-तमाम जाहिल, खुदगर्ज़, पागल, क्रूर और षड्यंत्रकारी लोगों से टक्कर लेते रहकर, घर-परिवार के निजी स्वार्थों को तजकर, दुनिया-भर के दुखों को झेलते हुए विद्रोही रंगकर्मी, रचनाकारों और दिमाग़ों को तुम एय्याश प्रेत कहोगे? यह तुम्हारी समझ है?" अनुराधा कुलकर्णी ने एक ही साँस में चीखकर यह भाषण दिया और धम्म से कुरसी पर बैठ गयी।

मैं उजबकों की तरह उस रेस्तराँ में लोगों की कानाफूसी और फ़िकरों और अनुराधा कुलकर्णी के विक्षोभ को सहता चुप खड़ा था और समझ नहीं पा रहा था कि यहाँ से तेज़ दौड़ लगाकर भाग जाऊँ या इसी तरह

गुनाहगारों-सा चुप खड़ा रहूँ !

"सॉरी !" आखिर अनुराधा कुलकर्णी ने खड़े होकर कहा और मेरे दाएँ गाल पर एक चुंबन लेकर हँस पड़ी। मैं उस दीर्घ चुंबन का स्पर्श-सुख महसूसता बैठ गया। वह भी बैठ गयी। फिर हम चाय पीने लगे। चुपचाप।

मेरी पत्नी उठकर खड़ी हो गयी और कुरसी को मेरे सामने सरकाकर बोली, "खाना खा लो, वरना ठंडा हो जायेगा। सोचने के लिए पूरी रात पड़ी है।"

मैं उसके दुख को समझ रहा था, पर विवश था। मैं अनुराधा कुलकर्णी का दुख भी समझ रहा था, पर चुपचाप चाय पीता रहा था। अब मैं चुपचाप खाना खा रहा हूँ।

मैंने बताया न, मेरे साथ ऐसा ही होता है। मैं आज तक नहीं समझ पाया हूँ कि अकेला आदमी बावजूद सकारात्मक सोच और तमन्नाओं के अंततः ग़लत क्यों साबित हो जाता है, होता चला जाता है ?

मैंने बताया न, मेरा सुख कोई छीनकर ले गया है। और आपका ?

युद्ध

सीट पर बैठने के बाद उसने अपनी वर्क-फ़ाइल निकालकर आज की तारीख के ज़रूरी काम देखे, फिर मंथली सेल का रजिस्टर निकालकर टोटल में जुट गया। कुल पाँच पृष्ठों का टोटल करके सेल-समरी तैयार करनी थी और दोपहर एक बजे से पहले इस माह की सेल-रिपोर्ट एम० डी० को भेजनी थी। यह सबसे पहला ज़रूरी काम था। वह तुरंत शुरू हो गया।

"सात और पाँच बारह...बारह और सात उन्नीस...उन्नीस...उन्नीस और नौ अट्ठाइस...अट्ठाइस और आठ...अट्ठाइस और आठ छत्तीस...छत्तीस...छत्तीस...छत्तीस और सात...।"

"क्या प्रगति है ?" अचानक सक्सेना ने उसका कंधा थपथपाकर पूछा और बग़ल की मेज़ पर रखा अटेंडेंस-रजिस्टर उठाकर अपने दस्तख़त करने लगा।

"काहे की प्रगति ?" उसने आश्चर्य से पूछा और झुंझला भी गया, क्योंकि अब उसे फिर से टोटल करना पड़ेगा। सक्सेना के अचानक टोकने से वह अंतिम जोड़ भूल गया था।

"अब यह भी बताना पड़ेगा ?" सक्सेना ने चिढ़ कर कहा, "सारी दुनिया में हल्ला मचा हुआ है और तुम पूछ रहे हो, काहे की प्रगति ? अमाँ, दीन-दुनिया का भी कुछ ख़बर है या नहीं ?"

"मैं अभी भी नहीं समझा।" उसने बेचारगी से सिर हिला दिया।

"अख़बार वगैरह नहीं पढ़ते ?"

"अख़बार ?" वह इस तरह चौंका जैसे सक्सेना ने उससे कोई बेहद

ही असंगत प्रश्न पूछा हो। उसने पहले तो गरदन हिलायी, फिर आहिस्ता से बोला, "अखबार पढ़ने की फुरसत ही कहां मिलती है? पढ़ना तो दूर... यहां अखबार साले की शक्ल देखे हुए भी जमाना गुजर गया।"

"धत्तेरे की...!" सक्सेना बड़बड़ाया। "तुम आदमी हो या...कमाल है, तुम्हें इस बात की कोई खबर ही नहीं है कि दुश्मन देश ने अपने देश के साथ युद्ध शुरू कर दिया है...तुम क्या कर रहे हो दुनिया में...यार, कमाल है...!" सक्सेना उसकी अज्ञानता पर तरस खाता हुआ अपने सैक्शन में चला गया।

"हुँह।" वह बड़बड़ाया, "भाड़ में जाये साला युद्ध।" वह फिर से अपने टोटल में जुट गया।

ठीक एक बजने में दस मिनट पर उसने सेल-रिपोर्ट तैयार करके चपरासी के हाथ एम० डी० के केबिन में भिजवायी और आराम की मुद्रा में कुर्सी की पुश्त से सिर टिका लिया। दिमाग चट-चट करने लगा था। थोड़ी देर बैठे रहकर वह उठा और बाथरूम चला गया। बाथरूम से निकलकर उसने हाथ धोये और अपना टिफ़न लेकर दफ़्तर से बाहर चला गया। वह नहीं चाहता था कि रैस्ट-रूम में जाकर लंच ले। वहां युद्ध की चर्चा गरम होगी और उसे युद्ध, क्रिकेट, राजनीति और फ़िल्मों—सभी से समान अरुचि थी।

पर अधलेटा-सा हो गया। इस बीच पत्नी मेज़ पर चाय का प्याला रख गयी थी। कुछ देर तक वह चाय के प्याले को घूरता रहा और अपनी नौकरी, अपनी ज़िंदगी और पत्नी के आठवीं फेल होने को लेकर किलसता रहा। अगर पत्नी पढ़ी-लिखी होती तो कहीं काम कर सकती थी। भार्गव की पत्नी की तरह। तब ऐसा तो न होता कि वह पूरे दिन दफ़्तर में खटकर आता और फिर से खटने के लिए चल पड़ता। यह भी साली कोई ज़िंदगी है कि साढ़े-पाँच बजे दफ़्तर से छूटकर साढ़े-छह पौने-सात तक घर पहुँचो...चाय पियो और सात बजे तक पार्ट-टाइम करने फिर निकल पड़ो...रात दस बजे तक गरदन झुकाये प्रूफ़ पढ़ते रहो, फिर घर लौटो, खाना ठूँसो और सुबह काम पर जाना है इसलिए सो जाओ। हत्तेरे की ! कहाँ साला शादी का लफड़ा पाल लिया ! अब लगता है कि शादी से पहले के बेरोज़गारी वाले दिन ज़्यादा अच्छे थे। कम-से-कम यह सुकून तो था कि पैसे न होने की वजह नौकरी का न होना है। अब तो कमबख्त नौकरी भी है, पार्ट-टाइम भी है, मगर पैसा फिर भी नहीं है। 'धत्त साली ज़िन्दगी !' वह बड़बड़ाया और झटके से खड़ा हुआ। खड़े-खड़े ही उसने चाय पी और पत्नी से बताया कि आज वह प्रूफ़ घर लाकर ही पढ़ेगा और खाना आठ बजे खा लेगा। फिर उसने एक सिगरेट जलायी और 'अजंता प्रेस' की ओर चल पड़ा जहाँ से उसे रोज़ एक फ़ार्म प्रूफ़ मिलते थे। कभी वह प्रेस में ही पढ़ लेता था और कभी घर ले आता था। यह डेढ़-सौ रुपये पर्मानेंट आमदनी थी उसकी। तनख्वाह के पाँच सौ बीस रुपये मिलाकर भी महीने का अंत किसी भिखमंगे-सा फटेहाल और बदहाल गुज़रता था। वह दुखी न रहे तो क्या करे ?

प्रेस से प्रूफ़ लेकर वह पौने-आठ तक घर पहुँचा तो घर अँधेरे में डूबा हुआ था और उसकी पत्नी कमरे में मोमबत्ती जलाकर चुप बैठी थी। उसे आया देख वह खड़ी हो गयी और बोली, "अब तुम काम कैसे करोगे ?"

उसका दिमाग़ भन्ना गया। जो प्रूफ़ वह लेकर आया था वे सुबह आठ बजे दफ़्तर जाते समय उसे प्रेस में लौटाने थे। वह खिन्न मन से कपड़े बदलने लगा और पत्नी से खाना लगाने को कहकर खाट पर बैठ गया। उसने घड़ी देखी और ट्रांज़िस्टर चला दिया। समाचार आ रहे थे।

वह हैरान हो गया। समाचार तो पौने-नौ पर आते हैं। समाचार उसने कभी नहीं सुने थे और आज भी कोई प्रश्न नहीं था, पर सहसा ही स्विच ऑफ़ करते उसके हाथ ठिठक गये। समाचार काफ़ी सनसनीखेज़ थे— 'अपनी-अपनी खिड़कियों, रोशनदानों और दरवाज़ों को काले कागज़ से ढक लें, रोशनी बाहर न जाये यह एहतियात रखें, ख़तरे का सायरन बजने पर कमरे के कोनों में खड़े हो जायें अथवा घर के बाहर खंदक बना-कर उसमें चले जायें। आज से युद्ध चलने तक ब्लैक-आउट घोषित किया जाता है। कृपया ध्यान दें। हिंदुस्तानी फ़ौजें लगातार आगे बढ़ रही हैं।' खट्। उसने स्विच ऑफ़ कर दिया। ओहो, तो यह लाइट जाने का कारण युद्ध है। उसे गुस्सा आ गया। इस बीच पत्नी खाना ले आयी थी। वह मन-ही-मन युद्ध को गालियाँ देता रहा और खाना खाता रहा। अगर युद्ध न होता तो लाइट न जाती और वह प्रूफ़ पढ़ लेता। युद्ध के कारण पूरे पाँच रुपये का नुक़सान हुआ। खाना खाने के बाद उसने पत्नी से कहा कि सुबह ठीक चार बजे उठा दे, फिर वह बिस्तर पर चला गया और सोने की कोशिश करने लगा।

तंख्वाह का लिफ़ाफ़ा पत्नी को देते हुए वह बोला, "इस बार बजट में पचास रुपये कम पड़ रहे हैं, यार, किसी तरह खींच-तान करके इसी में गुज़ारा चला लो। तुम चाहो तो मेरी शाम की चाय बंद कर सकती हो।"

"पर इस महीने से तो तुम्हें घर के ख़र्च के लिए डेढ़-सौ रुपये ज़्यादा देने पड़ा करेंगे।" पत्नी ने लिफ़ाफ़ा नहीं लिया।

"क्या?" उसकी साँस रुक-सी गयी।

"...... ...."

"पर क्यों, भई?" वह परेशान हो गया।

"...................."

"तुमने तो कह दिया, पर पैसे क्या पेड़ में लगते हैं जो मैं तोड़ कर ले आऊँगा?"

"मैंने यह तो नहीं कहा!" पत्नी बोली।

"अरे मतलब तो वही है। कहा नहीं तो क्या हुआ? मैं पचास अपने

घटान की बात कर रहा हूँ, तुम डेढ़-सौ रुपये बढ़ाने को कह रही हो। कोई बात है भला? डेढ़-सौ रुपये छोटी-सी रक़म है क्या? तनख्वाह में डेढ़-सौ रुपये बढ़ने में पंद्रह वर्ष लगेंगे। मुझे केवल पंद्रह रुपये सालाना इन्क्रीमेंट मिलता है, बस।"

"वो तो ठीक है, मगर मैं क्या कर सकती हूँ? बताओ, तुम्हीं से तो कहूँगी न, या राह चलते आदमी को पकड़ लूं?"

"यार, मगर ये बजट में डेढ़-सौ रुपये एकदम से कैसे बढ़ गये, यह भी तो पता चलना चाहिए या नहीं?"

"युद्ध की वजह से।"

"युद्ध?" वह उछल पड़ा।

"हाँ," पत्नी ने जवाब दिया, "चीनी, चावल, गेहूँ, दालें, घी, तेल, साबुन, सब्ज़ी, दूध, चाय—यानी कि हर चीज़ युद्ध के कारण लगभग दुगुनी क़ीमत पर मिलने लगी है। चार रुपये से बढ़कर चीनी अब चौदह रुपये किलो पर चली गयी है, एक रुपये किलो वाला आलू दो रुपये किलो और दो रुपये किलो वाला दूध अब चार रुपये किलो है। एक बीस से बढ़कर गेहूँ अब सीधे दो तीस पर चला गया है और टमाटर तो अब बड़े लोग ही खा सकते हैं। उसका भाव नौ रुपये किलो है।"

"क्या!" उसकी आँखें फट गयीं। वह सहसा ही ज़मीन पर झुकता चला गया जैसे अचानक रीढ़ की हड्डी बीच से 'क्रेक' हो गयी हो।

"मकान के किराये में तीस रुपये बढ़ाने का नोटिस मिस्टर अग्रवाल ने दिया है, या फिर मकान खाली करना होगा।"

"अरे!" उसकी घिग्घी बँध रही थी।

"और बताऊँ?" पत्नी ने एक अजब-से उत्साह में कहा, "मिट्टी का तेल अब नहीं जला सकेंगे, क्योंकि अव्वल तो वह मिल ही नहीं रहा है और अगर मिलता है तो चार रुपये लिटर भी खुशामद से मिलता है।"

वह पत्नी के उत्साह को देखकर रो पड़ने को हो गया। उसकी पत्नी उत्साह में नहीं, दुख और आवेश और असहायता के भँवर में फँसी सिर पटकती आवाज़ में बोल रही थी। वह अपनी औक़ात के चिथड़ों को देख-

कर आतंकित हो गया। बस यही है उसके जीवन की कुल उपलब्धि ? बजट में डेढ़-पौने-दो सौ रुपये बढ़ने पर साँसें डूबने लगी हैं !

"मगर यह युद्ध हो क्यों रहा है ?" उसने चीख़ कर पूछा। उसकी चीख़ सुनकर पत्नी भयाक्रांत हो उठी। पत्नी को लगा कि उसे घबराहट में दौरा पड़ गया है शायद, वह तेज़ी से बाहर गयी और उसके लिए पानी ले आयी। पानी का गिलास उसे थमाकर पत्नी अपने आँचल से उसका माथा पोंछने लगी जो पसीने से लथपथ हो गया था।

उस रात उससे खाना नहीं खाया गया। शायद यह उसकी ज़िंदगी का पहला दिन था जब वह बेक़रारी से सुबह होने की प्रतीक्षा कर रहा था। वह जल्दी से दफ़तर पहुँचना चाहता था और हर वक़्त युद्ध की बात करते रहने वाले सक्सेना से पूछना चाहता था कि युद्ध क्यों हो रहा है ? क्या ज़रूरत है इस युद्ध की, जो क़ीमतों में आँधी लाता है और आदमी की गृहस्थी को उजाड़ कर रख देता है ?

आख़िर इस युद्ध का कारण क्या है ?

"युद्ध ? युद्ध तो युद्ध है। इसमें क्यों का क्या मतलब है ? यह भी कोई सवाल है भला ?" सक्सेना ने सवाल सुनते ही हड़बड़ाहट-भरे स्वर में जबाब दिया, मगर दूसरे ही पल वह गंभीर हो आया और कुछ चिंतित-सी आवाज़ में बोला, "नहीं, सवाल तो यार सचमुच बड़ा ग्रेट है पर, जहाँ तक मुझे याद है, मैंने इस बारे में न तो कहीं पढ़ा है और न ही किसी से सुना है। दरअसल, युद्ध के समय सभी की नज़र हार-जीत, नुक़सान-फ़ायदे और मौत की आशंका और देश की तबाही पर ही लगी रहती है। अब तुम ही सोचो, जब चारों तरफ़ युद्ध और युद्ध के दुष्परिणामों का आतंक टहल रहा हो तब इस तरह का सवाल भला जेहन में प्रवेश कर सकता है ? मगर सवाल तो तुमने मार्के का पूछा है, बहरहाल मुझे पता नहीं है।"

"तो ?" उसने कहा और सोच में पड़ गया। जब सक्सेना जैसे युद्ध-विशेषज्ञ को ही यह बात मालूम नहीं है तो उसके सवाल का जवाब कौन देगा फिर ? उसने दुख का अनुभव किया और सिगरेट सुलगाने लगा।

आज युद्ध का सातवाँ दिन है। दोनों ओर के जवान हताहत हुए हैं आज भी। हिंदुस्तान की फ़ौजें दुश्मन देश के भीतर काफ़ी आगे तक घुस चुकी हैं। रेडियो पर देशभक्ति के गीत बजते हैं आजकल और हर घंटे बाद विशेष समाचार के अंतर्गत लड़ाई का आँखों देखा हाल प्रसारित होता है। दफ़्तरों में काम-काज ठप्प है और लोग पॉकेट-ट्रांज़िस्टर कान में लगाये बैठे रहते हैं। देश की माताओं, बहनों ने अपनी घरेलू बचत से ऊन ख़रीदकर जवानों के लिए स्वैटर, मोज़े और दस्ताने बुनने शुरू कर दिये हैं। देश की कुछ धनी महिलाओं ने अपनी सोने की अँगूठियाँ रक्षा-कोष में डोनेट कर दी हैं। हर मुहल्ले में 'रक्तदान-केंद्र' खुला हुआ है और स्वयंसेवकों का दल 'हर घर से एक व्यक्ति का खून लेने का' टार्गेट पूरा कर रहा है। हर घर के बाहर खंदकें खुदी हुई हैं। दरवाज़ों, खिड़कियों और रोशनदानों पर लोगों ने काले कागज़ लगा दिये हैं। हिंदुस्तान के डेढ़-हज़ार और दुश्मन देश के छह हज़ार सिपाही और अफ़सर मारे जा चुके हैं। दिन-भर ख़तरे के सायरन बजते और बंद होते हैं। भाव बढ़ गये हैं। चीज़ें बाज़ार से ग़ायब होकर काले बाज़ार में पहुँच गयी हैं। चाय के खोकों, कॉफ़ी-हाउसों, पान की दुकानों, गली के नुक्कड़ों, सड़क के किनारों, दफ़्तरों, कॉलेजों और बस्तियों में युद्ध और युद्ध से पैदा तबाही और भुखमरी और ग़रीबी और आतंक की चर्चा गरम है। आंतरिक सुरक्षा बनाये रखने के लिए हड़तालों, जुलूसों, भाषणों और देश की अखंडता को खंडित करने वाली सामग्री के प्रकाशनों पर रोक लगा दी गयी है। ब्लैक-आउट घोषित है और फ़िल्मों का अंतिम शो बंद कर दिया गया है।

यह सब जानकारी उसे एक ही रोज़ में प्राप्त हो गयी, पर उसके कुल डेढ़ दर्जन दोस्त, परिचित और संबंधी उसे यह बता पाने में नाकामयाब ही रहे कि युद्ध हो क्यों रहा है !

दिमाग़ी तनाव के विक्षिप्तता की सीमा पर पहुँचने के ख़तरे से घबराकर उसने अंततः दफ़्तर से दो दिन की आकस्मिक छुट्टी स्वीकृत करायी और शहर की सबसे बड़ी और बहुचर्चित लायब्रेरी में चला गया। पूरे दो दिन

उसने लायब्रेरी में बिताये और युद्ध के सातों दिनों तथा युद्ध से एक महीने पहले तक के सभी अखबार, पत्रिकाएँ, बुलेटिन और पुस्तकें पढ़ डालीं, मगर यह देखकर वह हतप्रभ रह गया कि उसके प्रश्न का कहीं कोई उत्तर ही नहीं था। पहले तो, आश्चर्य से वह जड़ हुआ और अंत में उसकी घिग्घी बँध गयी। इतना बड़ा फ्रॉड ? सरेआम ? हे ईश्वर ! उसने सोचा और थर-थर काँपने लगा। फिर ?

फिर युद्ध बंद हो गया। हिंदुस्तान की फ़ौजें अपनी सरज़मीन पर वापस लौट आयीं। जीता हुआ इलाक़ा दुश्मन देश को उदारता और मित्रता के संदेशों सहित वापस लौटा दिया गया। ब्लैक-आउट ख़त्म हो गया। खंदकें बंद कर दी गयीं। युद्ध में शहीद जवानों को मरणोत्तर 'वीरता चक्र' प्रदान किये गये। विधवाओं को सिलाई-मशीनें बाँटी गयी। देशभक्ति-पूर्ण गीतों के रचयिता कवियों को राजकीय सम्मान दिये गये। देश के दो बड़े अखबारों के संपादकों को उनके उत्साही और सहयोगी विचारों के परिणामस्वरूप पंद्रह दिन की विदेश-यात्रा की सुविधाएँ उपलब्ध करायी गयीं। दुनिया-भर के अख़बारों में हिंदुस्तानी जवानों की बहादुरी और हिंदुस्तानी सरकार की उदारता को रेखांकित किया गया। देश की सरकार ने जनता के प्रति आभार-प्रदर्शन के विशेष न्यूज़ बुलेटिन प्रसारित करवाये और अंततः राज-काज तथा जन-जीवन फिर से युद्ध-पूर्व स्थितियों में लौट आया।

पर, चीनी, गेहूँ, घी, तेल, कोयले, सब्जियों, दूध, और दवाइयों के जो भाव युद्ध के दौरान क्रांतिकारी ढंग से बढ़ गये थे, वो टस से मस नहीं ही हुए।

और हाँ, उसकी बात तो रह ही गयी। वह युद्ध बंद होने के बाद कई दिनों तक चीज़ों के भाव घटने का इंतज़ार करता रहा और रातों को जागता रहा और अपने बजट की काट-छाँट करके उसे जी सकने लायक़ स्तर पर रोकने की ज़बरदस्त कोशिश करता रहा, पर सफल नहीं हुआ

भूत

इस भूत से वह और कितने दिनों तक अकेला ही टकराता रहेगा? क्या इस लड़ाई में अनीता को हिस्सेदार बनाया जा सकता है? यदि हाँ, तो भी अंततः उसे जूझना तो अकेले ही पड़ेगा। अनीता राज़दार तो बन सकती है, मगर हिस्सेदार कैसे बनेगी? हो यह भी सकता है कि राज़दार बनते ही अनीता वह न रहे जो है और अगर ऐसा हुआ तो उसे अनीता के 'एस्केप' का शायद उतना मलाल नहीं होगा जितना इस बात से कि उसकी कायरता सहसा ही अपराध की संज्ञा में बदल गयी है। अपराध जब तक दूसरे की जानकारी का हिस्सा नहीं बनता तभी तक शायद उसे कुछ मोहक नाम दिये जा सकते हैं—मसलन कायरता, मसलन एस्केप, मसलन वैराग्य, मसलन बोधिसत्व की प्राप्ति, मसलन बुधं शरणं...उसने गरदन उठायी और आहिस्ता से बोला, "सुनो, मैं एक बात...।"

लेकिन बात पूरी किये बग़ैर उसे रुक जाना पड़ा। अनीता जिस मुद्रा में उसे अपलक ताके जा रही थी उसके जारी रहते किसी भी नाज़ुक बात को पूरा करना सम्भव नहीं था। वह रुक गया।

"रुक क्यों गये?" अनीता ने उसी तरह देखते हुए कहा।

"फिर सही।" उसने जल्दी से कहा, "चलो, चलें।"

"मुझे तुम पर क्रोध भी आता है और तरस भी। सुनो, तुम अपने-आपको बदल नहीं सकते?"

"मैं तुम्हारे क्रोध और तरस पर सिर्फ़ हँस सकता हूँ—एक बात। दूसरी बात यह है कि अपने-आप को बदलना क्या होता है, मैं नहीं जानता। चलो, अब चलें। तुम्हें आज घर नहीं जाना?"

"तुम क्या कह रहे थे उस समय ?"

"कह नही रहा था, कहना चाह रहा था, पर मुझे लगता है कि अपना वहुत कुछ या कहूं कि अपना सभी कुछ मुझे अपने साथ ही ले जाना होगा...।"

"तुम खुलते क्यों नहीं ? क्या एक वर्ष लम्बे परिचय के वाद भी मैं इस क़ाविल नहीं हुई कि मुझ पर यक़ीन किया जा सके ?"

"नहीं, वह वात नहीं है। मुझे लगता है, तुम झेल नहीं सकोगी।"

"तुम झेल सकते हो तो मैं भी...।"

"तुम्हारा भ्रम है। मैं भी नहीं झेल पा रहा हूं। काश झेल पाता ! पर यह सम्भव नहीं है। शायद आदमी की सहन-शक्ति से भूत की शक्ति ज़्यादा वड़ी होती है।"

"भूत ?"

"हाँ भूत,...जो मेरे वर्तमान को खा रहा है।"

"मैं समझी नहीं।"

"कोई वात नहीं।" उसने कहा और उठ खड़ा हुआ। अनीता कुछ देर तक वैसे ही वैठी रही। चोट खायी। आहत। फिर तमककर उठी और तेज़ी से वाहर निकल गयी। उसने काउंटर पर आकर दो चाय के पैसे दिये और धीरे-धीरे वाहर आ गया। उनके क़दम परिचित रास्ते को नाप रहे थे, रोज़ की तरह। रेस्तराँ के एकदम वग़ल वाला पार्क वीच से पार करते हुए उन्हें दूसरी तरफ़ जाना था, जहाँ अनीता का वस-स्टॉप था। वह अपने सुस्त क़दमों से रास्ता नाप रहा था और एक गहरी तकलीफ़ से उसका चेहरा तना हुआ था। उसके व्यवहार से अनीता आज फिर अपमानित हो गयी थी। उसका मन्तव्य यह नहीं था। लेकिन वह मजवूर था। वह आज तक नहीं सोच पाया कि अपने-आप में ऐसा कौन-सा परिवर्तन लाये जिससे अनीता सुखी हो सके ? वह पूरी शिद्दत से चाहता है कि कम-से-कम कोई एक व्यक्ति ऐसा ज़रूर हो जो उससे जुड़कर अपने को सुखी अनुभव कर सके। वह व्यक्ति अनीता ही हो, वह यह भी चाहता है, पर...।

सहसा उसे रुक जाना पड़ा। अनीता ने अपना रुआँसा चेहरा उसकी

बाँह पर रख दिया था।

"सुनो, ये क्या कर रही हो?" वह झुँझला गया, "सीन क्रिएट हो जायेगा।"

अनीता अलग हट गयी। उसे फिर दुख हुआ। उसने चलते-चलते ही उसकी हथेली दबायी और मधुर आवाज़ में बोला, "प्लीज़...मुझे ग़लत मत समझो। किसी भी दिन, जब चीज़ें हद से गुज़र जायेंगी, मैं अपने-आपको खोल दूँगा।"

'कोई ज़रूरत नहीं।" अनीता ने सहसा ही तमककर कहा, "मैं इस अजनबी रिश्ते को और नहीं ढो सकती। कल से मेरा इन्तज़ार मत करना, मैं नहीं आऊँगी।" अनीता ने अन्तिम वाक्य ज़ोर से कहा और तेज़-तेज़ क़दमों से आगे बढ़ गयी। वह खड़ा रहा। जब अनीता पार्क के अन्तिम सिरे पर पहुँचने को हुई तो उसने चीख़कर कहा, "लेकिन मैं आऊँगा।"

अनीता ने मुड़कर देखा तो वह फ़िल्मी अन्त पर मुसकराया और सिगरेट सुलगाने लगा। सिगरेट का कश लेकर वह वापस मुड़ गया। अँधेरा तेज़ी से उतर रहा था। पार्क की घड़ी में सात बजे थे।

अचानक उसे लगा, उसका दम घुट रहा है। 'सुबह वाली स्थिति,' उसने चौंककर सोचा और झटके से अपना मुँह रजाई से बाहर निकाल लिया। टेबिल-लैंप का स्विच उसने लेटे-लेटे ही ऑन किया। कमरे में रोशनी होते ही उसे बड़ा अजीब-सा लगा। सुबह भी ऐसा ही हुआ था। वह उठकर बैठ गया। अटैंडेंस-रजिस्टर पर अपने दस्तखत ठोकने के बाद वह मिसेज़ पाठक की सीट के निकट से होता हुआ गुज़रा था। मिसेज़ पाठक अपनी आदत के मुताबिक़ बोल-बोल कर अख़बार पढ़ रही थीं। उनकी सीट के पास से गुज़रते हुए उसने सुना, "देहरादून के निकट ट्रेन दुर्घटना," और वह लड़खड़ा गया। देहरादून। उसे लगा, उसका दम घुट रहा है और वह अपनी सीट तक पहुँचने से पहले ही गिर पड़ा। जब तक लोग-बाग हड़-बड़ा कर भागे और उसके इर्द-गिर्द एकत्र हुए तब तक वह उठकर अपनी सीट पर बैठ चुका था।

"ठोकर लग गयी थी," उसने अपनी ओर घूरती कई जोड़ी आँखों

को जवाब दिया था और सिर झुका लिया था। जब तक लोग अपनी-अपनी सीटों पर चले नहीं गये, उसका सिर झुका रहा था। लोग उसकी चुप रहने की आदत से परिचित थे, इसलिए वह सहानुभूति या व्यंग्य-भरे जुमले सुनने से बच गया, वरना स्थिति बड़ी ऑड हो जाती। फिर दिन-भर उसका मन उखड़ा-उखड़ा ही रहा और अभी-अभी उसे फिर लगा था, जैसे उसका दम घुट रहा है। माथे और चेहरे पर उसने पसीने का अनुभव भी किया और हृदय की धड़कन को असाधारण रूप से तीव्र भी पाया। कुछ देर वह उसी तरह बैठा रहा, फिर खाट से नीचे उतरकर टहलने लगा। क्या किसी दिन ऐसा भी हो सकता है कि उसका दम घुटने लगे, वह छटपटाता रहे, लोग नींद में डूबे रहें, अनीता सपनों में खोयी रहे, नीचे चौकीदार घूमता रहे, रेडियो पर रखी घड़ी टिक-टिक करती रहे और वह मर जाये ? अगले दिन शाम को साढ़े-पाँच से कब तक इन्तज़ार करती रहेगी अनीता ?

कब तक इन्तज़ार किया होगा मीना ने ? हो सकता है, उसने कुछ दिनों या महीनों बाद किसी और से विवाह कर लिया हो। दबाव तो उसके ऊपर तभी पड़ने लगा था। दो वर्ष की साँस-तोड़ कोशिशों और आहत चाहतों की धैर्यवान हिस्सेदार थी मीना। वह उसकी दो वर्ष लम्बी बेकारी से भी ऊबी नहीं थी। उसने कहा था, वह उसके सफल होने तक इन्तज़ार करेगी। सफल ? वह हँसा। ठहाका लगा कर। लेकिन तुरन्त ही इस अशिष्टता पर उसे अफ़सोस हुआ। शरीफ़ लोगों की कॉलोनी में रात के दो बजे इस तरह हँसना सौ प्रतिशत बेहूदगी थी। वह खाट पर बैठ गया। आहटों के प्रति संवेदनशील उसका मकान-मालिक सपरिवार बेहोश था शायद, वरना तुरन्त ही चेतावनी देने चला आता, 'कमाल करदे हो तुसी। तुसी किस तरह दे पढ़े-लिखे बंदे हो ? हुण सोण दा वेला है ते तुसी हँस रहे हो। तुवाड़े वास्ते ए बड़ी शर्म दी गल है।'

उससे हमेशा ऐसी ही हरकतें होती रही हैं जिन पर शर्म आये। वह उदास हो आया और फिर चहलक़दमी करने लगा। उसने हमेशा प्रयत्न किया है कि जाने—जाने कि वो कौन-सी वजहें हैं जो ऐन वक़्त पर उसकी चेतना को दुर्बल, असहाय और डरपोक बना डालती हैं ? उसने सोचा और

बिस्तर में घुस गया। ठंड लगने लगी थी। लिहाफ़ को गरदन तक ओढ़ कर उसने टेबल-लैंप का स्विच ऑफ़ कर दिया। कमरे में घुप्प अँधेरा हो गया। सारी चीज़ें डूब गयीं।

ऐसा ही घुप्प अँधेरा वह अपने दिमाग़ में चाहता है, इतना घना कि एक भी स्मृति उसे भेदकर न आ सके। कोई भी चित्र बनने से पहले मिट जाये, कोई भी आकृति उभरने से पहले डूब जाये। पर आकृति उभरती ही है, चित्र बनता ही है। बनता है और उसके मस्तिष्क के एक-एक बूँद रक्त को अपने बनने की प्रक्रिया में सोख ले जाता है।

ठीक यही क्षण होता है जब उसे लगता है कि उसका दम घुट रहा है, माथे पर, चेहरे पर पसीना चुहचुहा रहा है, पलकें थरथरा रही हैं, टाँगें लड़खड़ा रही हैं और आँखों के सामने का सब-कुछ चक्कर खा रहा है। यह उसकी अनुपस्थिति का क्षण होता है। और इसी क्षण की भयावहता का अन्दाज़ा लगा पाने में असमर्थ अनीता के लिए वह निर्मम, रूक्ष और असह्य हो जाता है, सैक्शन-ऑफ़िसर की नज़रों में सिनिक और मिसेज़ पाठक की नज़रों में हास्यास्पद बन जाता है। कौन बाँटेगा उसका दुख ?

'ग़म बढ़े आते हैं क़ातिल की निगाहों की तरह
तुम छुपा लो मुझे ऐ दोस्त गुनाहों की तरह।'

कहीं 'टेप' पर कोई ग़ज़ल सुन रहा है ? रात के दो बजे, कौन है उसके आसपास जो इस ग़ज़ल को सुनता जाग रहा है ? उसे आश्चर्य हुआ, सुकून भी मिला। लगा कि वह अकेला ही नहीं है। पर तभी 'खट' की ध्वनि हुई और फिर से वही पूरा सन्नाटा, पूरा अँधेरा, पूरा ग़म, पूरी स्मृति। वह बे-आवाज़ चीखा। उसने चीखते हुए चाहा कि छत से एक ईंट टूटकर गिरे और सिर पर इस तरह लगे कि याददाश्त चली जाये।

पर, याददाश्त आदमक़द होती जाती है। इस आदमक़द स्मृति में एक आदमक़द चेहरा उभरता है। यह माँ है।

'जल्दी आना।' माँ ने कहा था, और उसने जवाब दिया था कि वह गया और आया। उसके हाथ में माँ का मंगलसूत्र था जिसे औने-पौने दामों में बेचकर उसे लौटना था। उस समय रात के नौ बजे थे। मंगलसूत्र को किसी भी दुकान पर, किसी भी क़ीमत पर बेचकर उसे तुरन्त लौटना

था—माँ के पास। माँ, जो पिता के मृत शरीर के पास हैरान खड़ी थी, आँखों में गहरा अविश्वास और चेहरे पर यंत्रणा के चिह्न लिये। वह भागा था—मंगलसूत्र बेचने, मीना को खबर देने और पिता के दोस्तों को बुला लाने के लिए। उसे जल्दी आना था—पिता का अन्तिम संस्कार करने, दो छोटी बहनों और दो छोटे भाइयों को दिलासा देने, माँ को यह विश्वास दिलाने कि मकान का किराया उसी तरह दिया जाता रहेगा, भाई-बहनों की पढ़ाई उसी तरह जारी रहेगी, राशन का बिल उसी तरह जमा होता रहेगा, पिता द्वारा नारंग सेठ से पच्चीस प्रतिशत सालना ब्याज की दर पर लिये गये छह हज़ार रुपयों की किस्तें उसी तरह जमा होती रहेंगी, पिता की बीमारी का बिल डॉक्टर गुप्ता को शीघ्र ही चुका दिया जायेगा, कपड़े वाले के तीन सौ पिचहत्तर रुपये जल्दी ही दे दिये जायेंगे और मीना को वहू बनाकर घर ले आया जायेगा। और इन सारी समस्याओं का एकमात्र हल फ़िलहाल वह इकलौता मंगलसूत्र था जो कभी चार सौ रुपये में ख़रीदा जाकर रात के नौ बजे किसी भी एक दुकान पर गिड़गिड़ा कर सौ रुपये में बिकना था। यह सात वर्ष पहले की बात है।

वह तेज़ी से उठ बैठा। लाइट जलाकर उसने दराज़ से नींद की गोली निकाली, मुँह में डाली, खाट के नीचे रखे गिलास से पानी पिया और लाइट बुझाकर, बिस्तर में घुसकर थर-थर काँपने लगा। काफ़ी देर तक वह सोचता रहा कि उसको कँपकँपाहट ठंड से है या भय से, या वह कम-ज़ोर हो गया है?

सुबह जब आँख खुली तो नौ बजे थे। वह हड़बड़ा कर उठ गया। दफ़्तर साढ़े-नौ का है। बाज़ार जाकर चाय पीने और तब लैटरीन जाने का वक़्त नहीं था। उसने पानी पीकर सिगरेट जलायी और कमरे से बाहर निकल आया।

लौटकर तैयार होने तक साढ़े-नौ बज गये थे। नहाना और चाय आज के सुबह वाले कार्यक्रम से 'डिलीट' हो गये थे। दरवाज़ा बन्द करने से पहले उसने कमरे की दशा देखी और घबरा गया। सब-कुछ इस तरह अस्त-व्यस्त था जैसे किसी घमासान युद्ध का शिकार बना हो। दरवाज़ा

बन्द कर वह सीढ़ियाँ उतरने लगा।

'तुम्हारी अनगढ़ ज़िन्दगी को मेरी ज़रूरत है।' मीना ने कहा था।

'हाँ,' उसने सपने में खोते और हक़ीक़त से पिटते वर्तमान को महसूस कर जल्दी से कहा था। सचमुच, उसने चाहा था। कैसे? उसने सोचा था।

'आधा दृश्य तुम हो,' अनीता ने कहा था, 'और आधा दृश्य मैं हूँ।'

'ये दोनों आधे दृश्य मिलकर भी पूरे नहीं बन सकेंगे।' उसने अपने भीतर धज्जी-धज्जी होते ख्वाब को महसूस कर जवाब दिया था।

'क्यों?'

'मुझे लगता है मैं आधा दृश्य भी नहीं हूँ। पूरे दृश्य की स्मृति हूँ।'

'ओफ़ तुम्हारी फ़िलॉसफ़ी!' अनीता ऊब गयी थी। सब्र का आकार कितना बड़ा होना चाहिए—उसने सोचा था और थक गया था।

दफ़तर पहुँचते ही चपरासी ने बताया कि सैक्शन-ऑफ़िसर याद कर रहे हैं। उसने समय देखा, पौने ग्यारह होने को थे। उसने अटेंडेंस-रजिस्टर की ओर देखा, वह अपनी जगह नहीं था। लोगों की व्यंग्यात्मक नज़रों से स्वयं को बचाते हुए वह सैक्शन-ऑफ़िसर मिस्टर कालिया के कमरे में प्रवेश कर गया। रजिस्टर वहीं था।

"यह लीजिये हमारी कंपनी का कुटेशन, जिसे तैयार करके आप इराक़ भेजने जा रहे हैं!" मिस्टर कालिया ने एक पीली-सी पतली फ़ाइल उसके घुसते ही उसके मुँह पर दे मारी। वह झुका और ज़मीन पर गिर पड़ी फ़ाइल को उठा, कुटेशन-लैटर्स देखने लगा।

"सॉरी सर!" माथे पर आये पसीने को पोंछते हुए उसने लड़खड़ाती ज़बान में कहा, "मैं समझ नहीं पा रहा हूँ, यह कैसे हुआ? दुबारा तैयार करे देता हूँ।" जल्दी से पीछा छुड़ा कर वह जाने के लिए मुड़ा। उसकी टाँगें थरथराने लगी थीं और ज़बान ऐंठने लगी थी।

"और सुनिए। यह सरकारी दफ़तर नहीं है। बी पंक्चुअल!"

"जी।" उसने कहा और बाहर निकल आया।

"मिस्टर हरीश, व्हाट हैप्पंड?" उसके बाहर निकलते ही मिस पांडे ने उससे तपाक से पूछा। उसने नज़रें उठायीं और यह देखकर कि मिस

पांडे की नज़रों में उपहास नहीं है, आहिस्ता से बोला, "आई वांट टु डाई। कैन यू हैल्प मी ?"

मिस पांडे को सन्न छोड़ वह अपनी सीट पर जा बैठा। चपरासी से चाय लाने को बोलकर उसने अपना चक्कर खाता सर कुरसी की पुश्त से टिका लिया। दिसंबर के इस ठिठुरे मौसम में उसका माथा पसीना छोड़ रहा था। चाय पीते हुए उसने देखा—कुटेशन-लैटर पर उसने डॉक्टर गुप्ता का बिल एक सौ अस्सी रुपये, मकान का किराया दो सौ दस रुपये, नारंग सेठ की बक़ाया रक़म चौंतीस सौ साठ रुपये और पिता के दाह-संस्कार के खाते में साढ़े तीन सौ रुपये भी दर्ज किये हुए थे। इस कुटेशन-लैटर को इराक़ जाना था, ताकि उसकी कंपनी को ठेका मिल सके। उसने लैटर की चिंदी-चिंदी करके टोकरी में फेंक दीं और सिगरेट सुलगाने लगा।

जब वह रेस्तराँ के सबसे कोने वाली अपनी परिचित मेज़ पर पहुँचा तो अनीता वहाँ बैठी थी। उसने बेहद फीकी मुसकान से अनीता को विश करते हुए पूछा, "आ गयीं ?"

"दिख नहीं रही हूँ ?" अनीता ने चहक कर जवाब दिया, लेकिन उसे लगा, अनीता ने हमला किया है। वह चुप, अनीता के सामने बैठ गया।

"मैं थक गया हूँ।" उसने उँगली से मेज़ पर एम० बनाते हुए कहा, "तुम मुझे छुपा सकती हो ?"

"तुम्हारी नेचर से मेल नहीं खाता यह डायलॉग।"

"मेरी नेचर ?" वह मुसकराया और सहसा ही चौंक पड़ा। रेस्तराँ का गुरखा नौकर भीख माँगने वाली एक बूढ़ी औरत को, जो भीतर घुस आयी थी, धक्के देकर बाहर निकाल रहा था। माँ—उसने सोचा और तीर की-सी तेज़ी से बाहर झपटा...वह औरत माँ नहीं थी।

"झल्ली है, साब !" गुरखा ने सूचना दी और वह वापस लौट पड़ा। उसकी दायीं कनपटी के पास वाली नस तेज़ी से उछलने लगी थी।

"क्या था ?" अनीता हतप्रभ थी।

"हैं ?" वह चौंककर बोला, "कुछ नहीं। चलो, यहाँ से चलें।"

"कहाँ ?"

"चलो, मेरे घर चलो।"

"घर ?"

"नहीं, घर नहीं, घर तो तुम्हारे बिना कैसे बनेगा ? कमरे पर चलो।"

"पर साढ़े-सात बजे तक मुझे अपने घर पहुँचना होता है।"

"तो ?"

"यहीं बैठते हैं।"

वह फिर बैठ गया। सात वर्ष—उसने सोचा ! पिछले साल भूत की उम्र छह वर्ष थी। उससे पहले पाँच वर्ष। उससे भी पहले चार वर्ष और सबसे पहला वह दिन जब भूत पैदा हुआ था। भूत हर साल बड़ा हो रहा है। क्या किसी दिन ऐसा भी होगा जब भूत का आकार उसके अपने आकार को छा लेगा ? इस भूत को क़द्दावर बनाते जाने में किस-किसकी आहों ने योग दिया होगा ? कितने लोगों के विश्वास खंडित होने पर एक भूत का जन्म होता है ? माँ ने क्या किया होगा ? मीना ने क्या सोचा होगा ? बंटी, बबली, राजू और सुनील किस तरह याद करते होंगे उसे ? और नारंग सेठ, और डॉक्टर गुप्ता, और मकान-मालिक और खन्ना साहब और पिता के दोस्त और पिता का विश्वास !

'सुनिए', वह मर्द होकर रोने लगा था, 'आप इस तरह धोखा नहीं दे सकते। यह ग़द्दारी है। फ़ाउल है। नहीं, आप ऐसा हरगिज़ नहीं कर सकते। मुझे थोड़ी मोहलत और दीजिए। सुनिए, अच्छा मुझे पान की दुकान ही खुलवा दीजिए। प्लीज़...मेरी बात सुनिए।' उसने गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा कर कहा था। पर पिता के शरीर में कोई भी हरकत नहीं हुई थी।

'जल्दी आना !' माँ ने उसके हाथ में मंगलसूत्र देकर कहा था और उसने जवाब दिया था कि वह गया और आया। यह सात वर्ष पहले की बात है, जो सात ही वर्ष से क़दम-दर-क़दम उसका पीछा कर रही है। वह जानना चाहता है कि सात वर्ष पहले के इस दृश्य (जो उसकी स्मृति में जस का तस ठहरा हुआ है, जैसे फ्रीज हो गया हो) की स्थिति अब क्या है ? कौन-कौन रुका होगा उसके इंतज़ार में ?

"दुनिया तुम्हारे इंतज़ार में रुकी नहीं रहेगी, हरीश !" अनीता ने क्रोध से तमतमाते हुए कहा।

"और तुम ?" उसने अपना चेहरा ऊपर उठाया और अनीता की आँखों में झाँकने लगा, शरारत से।

"मैं दुनिया से बाहर नहीं हूँ," अनीता ने नजरें चुरा लीं। "इतनी आत्मलीनता को कोई भी टॉलरेट नहीं कर सकता, मैं भी नहीं।"

"काश, मैं अपने भीतर से निकल सकता !" वह बुझ गया। उसने हथियार डाल दिये और सिगरेट सुलगाने लगा।

फिर वही रात। वही कमरा। वही याद। वही जागरण। वही नींद की गोलियाँ। मौत। धोखा। बोधिसत्व। प्रेम। फ़र्ज़। भाई। बहन। माँ। पिता। प्रेमिका। घर। दफ़तर। स्मृति। ग़लती। गुनाह। प्रायश्चित। भूत। कहाँ ठहर सकता है वह ?

तुम तो अजेय थे। तुमने कहा था, 'ईश्वर मुझे उतने कष्ट नहीं दे सकता जितने मैं सहन कर सकता हूँ।' तो फिर ? तुम हार कैसे गये ? डॉ० गुप्ता का इलाज तुम जी-जान से करते रहे थे। तुम ठीक भी हो रहे थे। डॉक्टर गुप्ता ने कहा था कि अब तुम बच जाओगे और पुनः वही शक्ति, वही ऊर्जा हासिल कर लोगे जिसके दम पर तुमने ईश्वर को ठेंगा दिखाया हुआ था। तो फिर तुम अचानक नींद की गोलियाँ खाकर क्यों चल दिये ? ग़द्दारी तो तुमने की थी। मैंने तो कमज़ोर और हतप्रभ क्षणों में एक बौराया हुआ निर्णय लिया था। यह सही है कि मैं घबरा गया था, मगर यह भी सही है कि मैंने कभी कोई दावा भी नहीं किया था। तुमने तो दावे भी किये थे। परिवारऔर ज़िम्मेदारियों का विस्तार भी किया था। मैंने सिर्फ़ इतना किया था कि तुम्हारे विस्तार को स्वीकार नहीं किया। कर नहीं सका। मुझे मालूम है कि कई लोग मुझसे नफ़रत करते हुए मरेंगे या मरे होंगे, लेकिन इस नफ़रत का सिलसिला तुमसे आरंभ हुआ है। कारण तुम ही हो। सुनो। मैं सच्चे मन से कहता हूँ कि अपनी असहायता के इस अंतिम क्षण में भी मैं तुमसे नफ़रत कर रहा हूँ। तुम न भागे होते तो मैं भी न भागता। रास्ता तुमने ही बताया था। तुमने कहा, लड़ो और खुद भाग लिये। कैसे लड़ता मैं ?

मैं नहीं जानता कि मीना ने इंतज़ार किया या विवाह कर लिया। माँ

ने ज़हर खाया या युद्ध किया। मैं यह भी नहीं जानता कि उस रात तुम्हारा दाह-संस्कार हुआ भी या नहीं ? मैं जानता हूँ उस भूत को जो तुम्हारे मरते ही पैदा हो गया था, जिसने पिछले सात वर्षों में मुझे खोखला कर दिया है। आज अपने-आपके लायक़ भी नहीं रह गया हूँ मैं। माँ ने कहा था, 'जल्दी आना।' मैं गया ही नहीं। उसकी अंतिम पूंजी, उसका मंगलसूत्र भी छीन लाया था मैं। ज़रा सोचो, पिछले सात साल से क्रमशः बड़े होते भूत से कौन लड़ेगा मेरे साथ ? अपनी ज़लालत की शौर्य-गाथा किससे बयान कर सकता हूँ मैं ?

यह मैं हूँ, क्रमशः दुर्बल होती चेतना और घने होते अपराध-बोध के साथ। यह मेरा वर्तमान है। घायल। निरर्थक और वीतरागी। मेरा समाधान बन सकती हैं ये गोलियाँ, पर तुम्हारा समाधान ये नहीं थीं। नहीं ही थीं। पर, तुमसे नफ़रत करते हुए भी तुम्हें क्षमा।

उसने देखा, वह अभी तक कमरे के बीचोंबीच खड़ा हुआ था। रात के ग्यारह बजे। सुबह से भूखा, कमज़ोर, मगर लड़ता हुआ।

जूते-मोज़ों समेत वह बिस्तर में घुसा और ठहाका लगाकर हँस पड़ा। हँसता रहा। देर तक। वह चाहता था कि मकान-मालिक आये और देखे कि दुनिया में इतने अशिष्ट लोग भी होते हैं जो जूते-मोज़े पहनकर सो जाते हैं और इतने धाकड़ लोग भी होते हैं जो ठहाके लगाते हुए मर जाते हैं।

नींद की बची हुई दसों गोलियाँ उसने पानी के साथ सटक लीं और फिर ठहाके लगाने लगा। ज़्यादा देर नहीं लगी। उसके कमरे का उढ़का हुआ दरवाज़ा चरमराया और खुल गया।

उसे मालूम था कि आने वाला शख्स मकान-मालिक ही होगा। उसके होंठ टेढ़े हो गये। विद्रूप की तरह।

नहीं, भूत के पाँवों की तरह।

ख़बर

क़रीब पंद्रह मिनट की मुसलसल चुप्पी से आजिज़ आकर पहले ने कुछ कहने के लिए मुँह खोला तो देखा, दूसरे ने ठीक इसी क्षण उसकी तरफ़ कुछ कहने को मुँह उठाया था। पहला चुप हो गया। दूसरा भी चुप ही रहा।

"तुम कुछ कहने जा रहे थे?" पहले ने दूसरे को टोका।

"तुम भी कुछ कहना चाहते थे। नहीं?" दूसरे ने जवाब दिया। उसके जवाब में सवाल भी था, जिसके उत्तर में पहले ने कहा, "हाँ! लेकिन तुम बताओ, क्या कह रहे थे?"

"कुछ खास नहीं!" दूसरे ने कंधे डाल दिये।

"फिर भी!" पहले ने उसे कोंचना जारी रखा।

"कहा न, खास नहीं। तुम क्या कहना चाहते थे?"

"मैं?" पहला चौंककर बोला, "कुछ खास नहीं!"

"फिर भी," दूसरे ने पहले का वाक्य दोहराया।

"कहा न, ख़ास नहीं।" पहले ने भी दूसरे के वाक्य को दोहरा दिया।

इसके बाद क़रीब ढाई मिनट तक फिर दोनों के बीच एक पथरीला मौन पसरा रहा और उसके बाद दोनों के मुँह से एक साथ निकला, "मैं कहना चाहता था कि...।"

दोनों ने अपने-अपने वाक्य अधूरे छोड़ दिये और इस दिलचस्प संयोग पर ज़ोरदार ठहाका लगा कर हँस पड़े।

यह किसी रेस्तराँ के कोने वाली मेज़ नहीं, एक सरकारी दफ़्तर की ऊँघती हुई कैंटीन थी, जिसकी एक गंदी मेज़ पर दोनों क़रीब आधे घंटे से बैठे हुए थे। वे दोनों आपस में क़रीब दो महीने बाद मिले थे। यह पहले

का दफ़्तर था और दूसरा पड़ोस के एक शहर से अपने दोस्त से मिलने आया था। मिलने का कारण यह था कि उसके पास एक ख़बर थी जिसे वह जल्द-से-जल्द पहले को सुना देना चाहता था, लेकिन आधे घंटे की बैठक के बावजूद वह समय नहीं आ पाया था जिसमें उस ख़बर को सुनाया जा सकता।

दिक़्क़त दूसरी तरफ़ भी यही थी। दूसरा पहले से दो महीने बाद मिला था और पहले के पास दूसरे को सुनाने के लिए एक ख़बर थी, पर उचित मौक़ा ही पकड़ में नहीं आ रहा था।

"और क्या किया इस बीच ?" अचानक दूसरे ने सवाल किया। पहला घबरा-सा गया। और अपराधं -सा हो आया। उसने जल्दी-जल्दी दो महीने के जीवन का हिसाब-किताब सामने फैलाया और पाया कि उसने कुछ नहीं किया था।

"कुछ नहीं किया, यार !" पहले की सूरत दयनीय हो आयी।

"मैंने भी कुछ नहीं किया," दूसरे ने राहत की साँस लेते हुए तपाक से जवाब दिया। उसे इस बीच लगातार यह डर सताता रहा था कि कहीं पहले ने कुछ कर न लिया हो।

"एक तो ये मौसम भी बहुत ख़राब चल रहा है," पहले ने सहसा ही एक तर्क को उठाकर खड़ा करने की कोशिश की।

"मौसम ?" दूसरा इतनी ज़ोर से चौंका कि उसके हाथ का चाय का प्याला छलक गया। मौसम कहाँ से आ गया ? उसने पहले तो यह सोचा और तय किया कि पहले को दुरुस्त कर दे, लेकिन फिर अपना यह विचार उसने त्याग दिया। क्योंकि उसे तत्काल ही यह ख़याल आ गया कि यदि उसने पहले के इस तर्क की धज्जियाँ उड़ा दीं तो उसे कोई दूसरा तर्क प्रस्तुत करना पड़ेगा और दूसरा कोई तर्क उसके पास था नहीं। इसलिए उसने धीरे से कहा, "हाँ यार ! मौसम वाक़ई अच्छा नहीं है।" पहले की आँखें चमकने लगीं। कुछ न कर पाने का अपराध-बोध उसे कम होता लगा। वह गरदन झुका कर चाय पीने लगा।

तभी चाय पीते-पीते दूसरे को ध्यान आया कि उसने अभी तक पहले से पारिवारिक कुशल-क्षेम का कोई समाचार पूछने की औपचारिकता भी

नहीं निभाती है। वह शर्मिंदा-सा हुआ और बोला, "घर में सब ठीक है न ? भाभी, बच्चे ?"

पहले के मुँह का स्वाद बिगड़ गया। उसे दूसरे के बाज़ी मार ले जाने पर सख्त अफ़सोस हुआ। इतनी देर में उसे ज़रा भी इस बात का ध्यान नहीं आया था कि वह दूसरे के घर-परिवार के बारे में ही पूछ लेता। और अब यदि वह दूसरे के सवाल के जवाब में यह प्रश्न करेगा तो स्थिति हास्यास्पद हो जायेगी। फिर भी, न पूछना तो बदतमीज़ी ही होगी। उसने सोचा और कहा, "घर में सब ठीक ही है। तुम सुनाओ। राजू का एड-मिशन करा रहे हो इस साल ?"

"करा दिया," दूसरे ने पीड़ा-भरे स्वर में जवाब दिया, "आठ सौ रुपये लग गये। स्साला बच्चों को पढ़ाना भी कितना तकलीफ़देह होता जा रहा है। बताओ भला! इतनी फ़ीस तो अपन लोगों ने अपनी पूरी शिक्षा पर भी खर्च नहीं की होगी।"

"आठ सौ रुपये ?" पहला डर गया। उसका बच्चा भी स्कूल जाने लायक़ हो गया था और वह भी इस बार अपने बच्चे को स्कूल में डाल देना चाहता था।

"कौन-से स्कूल में दाखिल किया है ?"

"डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल में," दूसरे ने किंचित गर्व से कहा, "चालीस रुपये महीना बस का किराया और सत्तर रुपये महीना फ़ीस। इस प्रकार हर महीने एक सौ दस रुपये का यह नया खर्चा जुड़ गया है बजट में। समझ में नहीं आता कि कैसे होगा ?" अंतिम वाक्य तक पहुँचते-पहुँचते दूसरे की आवाज़ का दर्प धूल चाटने लगा था।

पहला बुरी तरह आतंकित हो गया। उसे लगा, इस वर्ष तो बच्चे का एडमिशन असंभव ही है। अचानक उसे लगा 'खबर' बता देने का यह उपयुक्त समय है। उसने तय किया ही था कि दूसरा बोला, "भाभी की नौकरी कैसी चल रही है ?"

"नौकरी ?" पहला पस्त पड़ गया, "वो तो छुड़वा दी।"

"क्यों ?"

"यार ! चल नहीं रहा था। अब दो बच्चे हैं। उनकी देखभाल ही नहीं

हो रही थी। लावारिस-से हो गये थे। नौकर साले हरामी होते हैं। सोचा, पाँच सौ रुपये यह कमाती है। डेढ़-सौ नौकर को देने पड़ते हैं, दो सौ उसकी अपनी मेंटिनेंस में लग जाते हैं। तो बाक़ी डेढ़-सौ रुपये के लिए बच्चों की ज़िंदगी तबाह करने में कोई तुक नहीं है।"

"हाँ, ये तो है।" दूसरे ने उसके तर्क को अपना पूरा समर्थन दे दिया। दरअसल, पहले को देख इस बीच वह भी अपनी पत्नी से नौकरी कराने की बात पर विचार करने लगा था। पहले की इस बात ने उसके मन की दुविधा ख़त्म कर दी और उसने तय किया कि ऐसे ही ठीक है। बीवी की नौकरी में कुछ धरा नहीं, सिवा कुछ नये तनावों के।

थोड़ी देर फिर ख़ामोशी छायी रही और दोनों सिगरेट फूँकते रहे। फिर दूसरे ने कहा, "सोचता हूँ, मैं भी अपना ट्रांसफ़र दिल्ली ही करा लूँ।"

"हें !" पहला बड़ी ज़ोर से चौंका, "मकान का क्या होगा ?"

"नहीं मिलेगा ?" दूसरे ने धीरे से पूछा।

"मिल तो जायेगा, पर यहाँ एक कमरे का रेट आजकल ढाई-तीन सौ रुपये है।" पहले ने अपने दर्द को याद करते हुए कहा। वह ढाई-सौ रुपये के एक कमरे में था। और उसका मकान-मालिक उसे पचास रुपये बढ़ाने या मकान ख़ाली कर देने का नोटिस दे चुका था।

"ठीक है, नहीं कराते हैं," दूसरे ने आराम से कहा और हँस पड़ा, "दिल्ली में आकर ही कौन-से तीर मार लिये जायेंगे ? अपना सौ रुपये का मकान ही ठीक है।"

"सौ रुपये !" पहले को बहुत दुख हुआ। पूरे डेढ़-सौ रुपये कम। इसीलिए दूसरा अपने बच्चे को डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल में पढ़ा पा रहा है। अचानक उसे लगा कि दूसरा अपना ट्रांसफ़र दिल्ली करा ले तो अच्छा रहे। उसे पता चल जायेगा कि दिल्ली में रह लेना ही अपने में उपलब्धि है। सहसा ही उसे ध्यान आया कि उसने बहुत कम सवाल किये हैं। वह सिर्फ़ जवाब देता रहा है और यह कोई बहुत अच्छी स्थिति नहीं है। उसने कई सवाल सोचे और उसे ध्यान आया कि उसने पिछले दिनों रंगमंच और मार्क्सवाद पर दो-तीन किताबें ख़रीदी हैं। उसने एकदम ही सवाल किया, "कुछ नया पढ़ा इस बीच ?"

"नहीं यार !" दूसरा हताश हो गया। एक लंबी, दुख-भरी साँस खींच कर बोला, "हमारे शहर की लायब्रेरी बहुत 'पुअर' है और जहाँ तक ख़रीदने की बात है तो बजट ने इजाज़त नहीं दी। किताबें कितनी महँगी भी तो हो गयी हैं। नहीं ?"

"हाँ !" पहले ने थोड़ा खुलकर कहा, "फिर भी इस बीच मैंने तीन किताबें ख़रीदीं। एक स्तानिस्लावस्की के ऊपर है और दो मार्क्सवाद पर।"

"वेरी गुड।" दूसरे ने झटके से कहा, लेकिन उसे दुख बहुत हुआ कि पहले की लायब्रेरी में तीन नयी किताबें जुड़ गयीं। उसने घड़ी देखी। उसे आये दो घंटे हो चुके थे। वह उठा खड़ा हुआ।

"क्यों ?" पहला चौंक गया।

"चलूँगा," दूसरे ने सहजता से जवाब दिया।

"तुम कुछ कहना चाह रहे थे," पहले ने दूसरे को याद दिलाया, क्योंकि उसे याद आ गया था कि वह दूसरे को एक 'ख़बर' देना चाहता था।

"तुम भी तो कुछ कहना चाहते थे ?" दूसरे को भी याद आ गया कि पहला कुछ कहना चाहता था।

"मेरे पास कुछ ख़ास नहीं था कहने को। तुम बताओ, क्या बात थी ?" पहले ने हथियार डाल दिये। उसे लगा, दूसरे को यह बताने में कि 'ज़िंदगी बहुत बोझिल हो गयी है' कोई नयी बात नहीं होगी। भला यह भी कोई ख़बर है कि मार्क्सवादी होने के बावजूद उसकी आस्था जीवन से ख़त्म हो रही है ? *फिर, यह कितनी घटिया बात भी तो है !*

"मैं भी कुछ ख़ास नहीं कह रहा था...," दूसरा हकलाने-सा लगा, "मैं कह रहा था कि...कि...कुछ नहीं, यार !" दूसरे ने झटके से बात ख़त्म कर दी। वह नहीं चाहता था कि पहले को उसके कमज़ोर पड़ जाने की ख़बर मिले। हालाँकि आया वह इसीलिए था कि पहले के सामने भरभराकर ढह जायेगा और सच-सच बता देगा कि अब यह जीवन जीना बहुत भारी पड़ रहा है, कि अब इस ढर्रेवादी, उबाऊ ज़िंदगी से उसका मोहभंग होता जा रहा है। लेकिन इस तरह कच्ची दीवार की तरह ढह

जाना उचित होगा क्या ? पहला क्या सोचेगा कि उसने कितने खोखले आदमी से दोस्ती की ! फिर वह यह भी नहीं चाहता था कि वह पहले की नज़रों में कमज़ोर और खोखला साबित हो। उसने अपने होंठों को भींच लिया और 'ख़बर' को बाहर आने से रोक लिया।

पहला उसके चेहरे पर आते भावों को देखता रहा और अपने चेहरे पर हाथ फेरता रहा। फिर उसने दूसरे के हाथ को कसकर पकड़ लिया और आहिस्ता से कहा, "डटे रहो, यार !"

"तुम भी !" दूसरे ने अपने निचले होंठ को दाँतों से दबा लिया और मुड़ गया।

अपनी सीट पर बैठते हुए पहले को याद आया कि वह दूसरे से यह पूछना तो भूल ही गया कि वह दुबारा कब आयेगा ?

छलावा

यानी छह साल का जीवन बिलकुल बेमानी था। बेमानी और कमज़ोर। इतना कमज़ोर कि शब्दों के एक मामूली प्रहार से टूट गया। हो सकता है कि प्रहार मामूली न रहा हो, लेकिन था तो शब्दों का ही। हो सकता है, शब्द केवल शब्द न रहे हों, लेकिन छह वर्षों का साथ गुज़रा जीवन भी तो शब्द नहीं था। जहाँ तक शब्दों की बात है, तो उनका इस्तेमाल तो वह कई बार कर चुका था। छह वर्ष के जीवन में क़रीब साठ बार। तो फिर उसी दिन के शब्दों में ऐसी क्या बात थी जो...!

उसने यही तो कहा था न कि 'वह इस झिक-झिक-भरी ज़िंदगी से तंग आ चुका है। उसे आज पता चला है कि वह हर मोर्चे पर किस क़दर अकेला है। अगर हर तकलीफ़ उसे अकेले ही झेलनी है तो साथ-साथ रहने में तुक क्या है, अर्थ क्या है? अगर सीमा उसकी ज़िंदगी को ख़ाली करके जा सके तो उसे बेहद सुकून मिलेगा।'

और शाम को दफ़्तर से घर लौटने पर उसने पाया कि घर ख़ाली है। सीमा उस घर को इस तरह ख़ाली कर गयी थी जैसे किरायेदार मकान ख़ाली करके जाता है। उसने बौराये हुए आदमी की तरह घूम-घूम कर उस एक कमरे के फ़्लैट को देखा था—सीमा अपना एक-एक सामान ले गयी थी। यहाँ तक कि फ़ोटो-एलबम में लगे उसके चित्र भी ग़ायब थे। जो उन दोनों के संयुक्त चित्र थे, वे बीच से फटे हुए थे और उनमें वह अकेला ही टँगा रह गया था। मकान की चाबी उसे पड़ोस से मिली थी, हमेशा की तरह। उसमें और सीमा में समझौता था कि जो भी मकान का ताला बंद करके जाया करेगा, वह चाबी पड़ोस में दे जाया करेगा। यह समझौता

तब हुआ था जब सीमा एक प्राइवेट पब्लिक स्कूल में नौकरी करने लगी थी। यह नौकरी उसने तीन महीने बाद ही छोड़ दी थी, लेकिन चाबी वाला समझौता जारी रहा था। यदि वह उसके लौटने के समय (हालाँकि लौटने का समय निश्चित नहीं था, लेकिन यह मान लिया गया था कि यह समय शाम साढ़े-पाँच से छह तक का है) कहीं बाज़ार वग़ैरह भी जाती तो भी चाबी पड़ोस में दे जाती।

मकान में ताला लगा देखकर उसने पड़ोस की कालबेल दबायी थी और जवाब में पड़ोसन उसे चाबी पकड़ा गयी थी। शायद सीमा का 'चले जाना' पड़ोसन को भी नहीं मालूम था, वरना वह इस बारे में ज़रूर ही कोई सूचना देती या बात करती। ताला खोलकर वह मकान में घुसा था और गलियारा पार करके कमरे के सामने आया था, सहज भाव से। फिर कमरे का दरवाज़ा खोलकर भीतर प्रवेश कर गया था। और इस प्रवेश के साथ ही उसकी आँखें भौंचक्की हो गयी थीं। कमरे की हालत ऐसी थी जैसे वहाँ कोई घमासान संघर्ष हुआ हो। अलमारा खुली पड़ी थी। उसके भीतर के कपड़े बेतरतीब थे। कुछ कपड़े ज़मीन पर पड़े थे, उसकी किताबें भी बिखरी हुई थीं और एक खुली हुई अटैची कमरे के बीचोंबीच रखी थी। और सबसे अंत में उसकी नज़र पड़ी थी राइटिंग पैड पर चिपके कागज़ पर, जिसमें लिखा था—'जा रही हूँ। अब नहीं आऊँगी। यदि इसी से तुम खुश रह सकते हो तो रहो। मैं तुम्हारी उदासी या बोरडम या अर्थहीनता का कारण क्यों बनूँ? गुज़रे हुए छह बरसों के दुख याद रखूँगी—सीमा।'

छह बरसों के दाम्पत्य जीवन के इस फ़िल्मी अंत पर पहले तो उसे कोफ़्त हुई; फिर वह बेदम-सा होकर खाट पर बैठ गया। यानी जो जिया वह जीवन नहीं, जीवन जीने की कोशिश-भर था। यानी दो जने छह साल तक एक-दूसरे की ज़िंदगी से लगातार दूर होते रहे थे। उनमें अपनापन नहीं, अजनबीपन विकसित हुआ था इस बीच। सीमा छह बरसों के दुखों को याद रखेगी। यानी सुख नाम की कोई चीज़ उनके जीवन में प्रवेश नहीं पा सकी थी। यानी ऐसा एक भी क्षण नहीं था जिसे 'सुख' मानकर याद रखा जा सकता। यानी छह साल तक जो संघर्ष किया उसका कोई मतलब नहीं

था। वह देर तक इस 'यानी' के असंख्य वाक्यों में घिरा बैठा रहा था। फिर मकान का ताला बंद कर, बस में बैठ सतीश के घर चला गया था। थोड़ी देर में उसे यह एहसास हो गया था कि कमरे का अकेलापन कितनी भयावह चीज़ है।

उस दिन ड्राई डे था। इसलिए ज़िद करके वह सतीश को अपने साथ 'बार्डर' ले गया और जरायमपेशा लोगों के उस खतरनाक अड्डे पर सस्ते लोगों की तरह सस्ती शराब पीता रहा और सस्ती बातें करता रहा। अगले दिन वह भूल गया था, लेकिन सतीश ने उसे बता दिया था कि नशे में धुत्त होकर वह कितनी बेहूदा और घटिया बातें करता रहा।

आज याद करता है तो हँसी आती है और दुख भी होता है। क्या सचमुच शराब के भीतर जाने के बाद जो बातें बाहर निकलीं, वे बातें सस्ती थीं या उन बातों की भाषा सस्ती थी? जो कुछ उसने बका वो असभ्य हो सकता है, लेकिन ग़लत तो नहीं था। इसमें क्या शक है कि उसके जैसा आज़ाद तबीयत का आदमी छह साल तक सीमा के कारण ही एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे दफ़्तर में ऐसी-तैसी कराता रहा और कोल्हू के बैल की तरह बिना चूं-चपड़ किये चक्कर काटता रहा? संघर्ष किया, अनथक संघर्ष किया। रात को रात और दिन को दिन नहीं समझा। पूरे छह साल उसने मुसलसल मेहनत की। बात-बात में काट पड़ने को तैयार एक टेढ़ा आदमी बात-बात पर घिघिया पड़ने वाले पालतू कुत्ते में तब्दील होता चला गया और 'उफ़' नहीं की। क्यों? क्योंकि उसने कभी यह नहीं चाहा कि अपनी किसी सनक में आकर वह कोई भी ऐसा काम कर दे जिससे उसके साथ-साथ सीमा भी मुसीबतों में फँस जाये। सीमा के सुखों के लिए उसने अपने को दुखों के जंगल में झोंक दिया। फिर भी सीमा लिखकर चली गयी कि दुखों को याद रखेगी!

हाँ, लगभग यही कुंठा थी जिसे उसने फूहड़ भाषा में उस रात अभिव्यक्त किया था, माँ-बहन की गालियों के साथ। पर उस कुंठा में नाजायज़ कुछ भी नहीं था, यह वह आज भी स्वीकार करता है।

आज भी! यह कितने आश्चर्य की बात है कि सीमा को उसकी

ज़िंदगी से गये हुए लगभग एक बरस पूरा होने को है और इस एक बरस में वह सीमा के और-और नज़दीक होता चला गया है। एक वर्ष में भी वह सीमा से उबर नहीं पाया। उसकी स्मृतियाँ हैं कि सीमा से शुरू होकर सीमा पर ख़त्म होती रही हैं। ऐसा नहीं है कि सीमा के चले जाने से उसे कोई पछतावा या अफ़सोस हो, या वह उसकी याद में घुला जा रहा हो। नहीं, ऐसा नहीं है। आज यदि सीमा उसके सामने आ जाये तो वह लपककर उसके गले लग जायेगा, ऐसा हरगिज़ नहीं है। हुआ दरअसल यह है कि सीमा ने उसके संघर्ष को, उसके प्रेम को, उसकी चाहत को जिस तरह अपमानित किया है, उसकी याद से उसका सर्वांग ऐंठा हुआ है। वह सीमा को प्रेम करते हुए नहीं, नफ़रत करते हुए उसकी याद में ग़र्क है। जिसने अलविदा कहने में क्षणांश-भर की देर नहीं की, ऐसी औरत के लिए उसने अपने छह क़ीमती वर्ष तबाह किये, उसको अफ़सोस है तो इसी बात को लेकर। वह सीमा के नहीं, अपने व्यवहार पर क्षुब्ध है। अपनी मूर्खता है जो उसे भारी पड़ रही है। वह विरह-वेदना में नहीं, नफ़रत की आँच में सुलग रहा है। बस एक बार वह चाहता है कि सीमा आकर उसके साथ रहे और इस बार वह खुद उसे छोड़कर चल दे।

पर सीमा है कि साल-भर गुज़र गया और लौटना तो दूर, चिट्ठी तक नहीं लिख सकी। यह उसने मालूम कर लिया था कि वह मायके में है और किसी स्कूल में नौकरी करने लगी है। सीमा के मायके में माँ के सिवा और कोई नहीं है। उसके पिता की मृत्यु उसी दिन हो गयी थी जिस दिन उनके पास सीमा की शादी का कोर्ट-नोटिस पहुँचा था। वे सरकारी क़िस्म के मध्यवर्गीय ब्राह्मण थे और दिल के मरीज़ थे। यह बरदाश्त नहीं कर सके कि जिस इकलौती लड़की को अपना पेट काट-काटकर उन्होंने एम० ए०, बी० एड० कराया है वह इस तरह उनकी घनघोर उपेक्षा कर एक विजातीय लड़के से कोर्ट में शादी कर लेगी। समाचार सुनते ही उनका कमज़ोर दिल बैठ गया और नतीजा यह हुआ कि शादी के बाद पहली ही तनख्वाह से सौ रुपये महीने सीमा की माँ को भी भेजे जाने लगे जो साथ रहने को तैयार नहीं थी, क्योंकि सीमा के पिता जो मकान छोड़ गये थे उसका एक किरायेदार उन्हें सौ रुपये देता था, बाक़ी दो कमरे और थे और

यदि वे दिल्ली में होते तो यक़ीनन वह घर-जमाई बनकर रहने लगता। तो जिस दिन सीमा उसे छोड़कर गयी उस दिन, रात को शराब के नशे में उसने पहली बार छह साल के बहत्तर महीनों में सीमा की माँ को भेजे सात हज़ार दो सौ रुपयों पर भी अफ़सोस किया था और जम कर किया था।

सीमा का साल-भर कैसा गुज़रा, वह नहीं जानता, पर उसका एक वर्ष बहुत बुरा बीता है। यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि सीमा के रहते हुए अकसर रात को आठ-नौ बजे लौटने वाला वह इस पूरे एक वर्ष से लगातार छह बजे घर आ जाता रहा है। पहले जिस दिन वह सतीश से नहीं मिलता था, उस दिन उसका हाज़मा बिगड़ जाता था और अब महीनों गुज़र जाते हैं, न उसे सतीश की याद आती है, न किसी और दोस्त की। बस कमरे में बंद रहना और पड़े रहना। खाना होटल में खा ही लेता है। कपड़े बाहर धुलते हैं। दफ़्तर के साथियों का कहना है कि उसकी सेहत गिर गयी है और शक्ल से वह अब ज़्यादा मेच्योर दिखने लगा है।

और ऐसी ही स्थिति में एक दिन तब वह शाम को कमरे में पड़ा दास्तोयेव्स्की का 'क्राइम एंड पनिशमेंट' शायद तिबारा पढ़ रहा था, जब घंटी बजी। आहिस्ता से वह उठा और बाहर गलियारे में आया। गलियारे में अँधेरा था। लाइट जलाकर उसने बाहर का दरवाज़ा खोला और उछल पड़ा। दरवाज़े पर सीमा थी। एक साल से अपने भीतर जमा नफ़रत के कोलाहल को महसूस करने में असफल हो उसने पाया, वह कमज़ोर पड़ रहा है। उसने रास्ता छोड़ दिया। सीमा भीतर चली आयी और उसके पीछे-पीछे चलता हुआ वह भी कमरे में आ गया और अलमारी का सहारा लेकर खड़ा हो गया।

"मैं वापस आ गयी हूँ।" सीमा ने कहा और वह अलमारी पर सिर टिका कर रोने लगा। एक सनसनीखेज़ तरीक़े से उसकी नफ़रत पिघलती जा रही थी और वह चाहने लगा था कि आज वह एक बरस से थामे अपने आँसुओं को सीमा के कंधे पर सिर टिकाकर बहा डाले। अलमारी से सिर उठाकर उसने सामने देखा—कमरा ख़ाली था।

वह सन्न रह गया। सीमा कहाँ गयी? वह भाग कर गलियारे में आया। गलियारा भी ख़ाली था और बाहर वाला दरवाज़ा भीतर से बंद था। वह फिर भीतर आया और फिर बाहर गया। सीमा सचमुच नहीं थी।

आख़िर एक छलावे से दूसरे के बीच वह कब तक भागता रहेगा? उसने अपने-आपसे सवाल किया और बाहर के दरवाज़े को पूरा खोलकर बीचोंबीच खड़ा हो गया।

प्रतिसंसार

यह दोपहर के ठीक दो बजे का लपलपाता हुआ वक़्त था। पूरी गली में बेतरह सन्नाटा था और वह दूर तक खाली पड़ी थी।

घर के सामने पहुँच कर उसने बंद दरवाज़े की कुंडी को खड़खड़ा दिया और आहट सूंघने लगा, लेकिन भीतर की खामोशी पूर्ववत रही। वह देर तक खड़ा रहा और खुद पर शर्मिंदा होता रहा। इस तरह बिना बताये वह अचानक आया है, इस बात को माँ किस तरह लेगी? पूरे दो साल वह इस घर से बाहर बने रहा है और इस तरह बाहर रहा है जैसे इस घर के साथ उसका कोई सरोकार ही न हो। न चिट्ठी, न कोई सूचना और न ही कोई पता। उसे मालूम था कि माँ दरवाज़ा खोलने पर जब अपने सामने उसे पायेगी तो चौंककर अपने पुराने अंदाज़ में कहेगी—'अरे! तू ज़िंदा है? मैं तो सोच रही थी कि...।' माँ हमेशा बात को ऐसी जगह ले जाकर अधूरी छोड़ती है कि सुनने वाला सिर से पाँव तक पानी-पानी हो जाये।

पानी। हाँ, पसीने ने पानी की लकीरों का चेहरा पहन लिया था और उसके चेहरे से फिसलकर गरदन और गरदन से फिसलकर पीठ पर रपटने लगा था।

उसने कुंडी को ज़रा ज़ोर से खड़खड़ाया। गली के सन्नाटे में कुंडी के खड़कने की आवाज़ दूर तक भागी, लेकिन गली पार करने से पहले ही लड़खड़ायी और गिर पड़ी। दरवाज़ा अभी तक बंद था। उसने उलटे हाथ की पहली उँगली को मोड़ कर माथे का पसीना साफ़ किया और सीधे हाथ से कुंडी को फिर खड़का दिया। अब की बार उसने कुंडी को ज़ोर

से और देर तक खड़खड़ाया। इतनी ज़ोर से और अनवरत कि आवाज़ ने गली पार कर ली।

आखिर दरवाज़ा खुला। माँ ही थी। वह पैर छूने को नीचे झुका और माँ ने उसकी आशा के विपरीत काम किया। यानी वह बुक्का फाड़कर रो पड़ी। उसने चौंककर इधर-उधर देखा, लेकिन गली पूर्ववत सुनसान थी। हाँ, उसका सन्नाटा ज़रूर माँ के आर्तनाद से खंडित हो गया था। माँ का रोना आर्तनाद जैसा ही था। उसने अपने दिल के भीतर कुछ हिलता-डुलता-सा महसूस किया। माँ को लिये हुए वह घर के भीतर आ गया। क़रीब आठ फुट का कच्चा आँगन पार करने के बाद वह कमरा आ गया, जिसमें उसके जीवन के कई जवान बरस टहल-टहल कर गुज़रे थे। कमरे में पिता थे जो एक खरहटी खाट पर चित्त पड़े हुए अपनी दोनों आँखों को फाड़कर छत पर चिपकाये हुए थे और मरे हुए आदमी का भ्रम दे रहे थे।

उसने कंधे का थैला दरवाज़े पर टाँग दिया और पिता के पैर छुए। पिता के शरीर में कोई हरकत नहीं हुई तो उसने मुड़ कर माँ की तरफ़ देखा। माँ धोती के पल्लू से अपनी आँखें पोंछ रही थी।

"जब से बिट्टू की मौत हुई है तभी से इनकी ऐसी हालत है।" माँ ने अपनी अशक्त आवाज़ बाहर खींची और उसके क़दम थरथरा गये।

"बिट्टू की मौत ?" उसकी आँखें फैल गयीं और खड़ा नहीं रहा जा सका। वह पिता की चारपाई पर बैठ गया और चश्मा उतार कर साफ़ करने लगा। चश्मा उतारते ही चीज़ें धुँधला गयीं। माँ का चेहरा भी, जिसके भावों से अब उसका सामना नहीं हो पा रहा था, सिर्फ़ कानों में आवाज़ आ रही थी—"हाँ, पिछले बरस गर्मियों में बिट्टू गुज़र गया।"

"कैसे ?" उसने लड़खड़ाती आवाज़ में पूछा, "तुमने मुझे इत्तला तक नहीं दी।" लेकिन इस आरोप के साथ ही उसका गला सूख गया और वह अपने मुँह से निकले एक पूरे ग़लत वाक्य पर शर्मिंदा हो आया। माँ उसे कैसे और कहाँ बताती ? माँ के पास उसका पोस्टल एड्रेस तक तो है नहीं। उसने चश्मा पहन लिया, ताकि बिट्टू की मौत की सूचना से आँखों में तिर आया पानी एकाएक ही दिखायी न पड़े।

दो वर्ष के भीतर कितना-कुछ उलट-पलट गया है, उसने पिता की तरफ़ देखते हुए सोचा। पिता बदल रहे हैं, इसका अहसास तो उसे दो साल पहले ही हुआ था जब वह पूरे एक वर्ष बाद घर लौटा था और पाया था कि पिता रिटायर होकर घर बैठ चुके हैं और बिट्टू अपना हाईस्कूल का इम्तहान देने के बाद आगे की पढ़ाई छोड़कर एक रेफ्रीजरेटर की दुकान में सात रुपये रोज़ पर काम करने लगा है।

तभी उसे यह भी पता चला था कि रिटायर होने के बाद पिता ने कहीं प्राइवेट नौकरी पाने के लिए बहुतेरे प्रयत्न किये, मगर अपनी एकदम कमज़ोर हो चुकी नज़र और अट्ठावन साल में सत्तर साल के लगने के कारण असफल रहे। तब उसने पिता को काफ़ी बदले हुए रूप में देखा था। बात-बात पर उत्तेजित हो पड़ने और क्रोध में उन्मत्त हो जाने वाले पिता पस्त पड़ रहे थे। उसकी घर-वापसी पर वह सिर्फ़ इतना बोले थे—'चेहरा बताता है कि 'सुखी नहीं हो। सुखी होते तो यह संतोष रहता कि मैं ही ग़लत था, पर देख रहा हूँ कि मैं ग़लत नहीं था।'

उसने जवाब नहीं दिया था, पर पिता को सही और खुद को ग़लत भी नहीं मान पाया था। जवाब देने का कोई लाभ भी नहीं था, क्योंकि पिता के इस और इस जैसे ढेरों आक्रामक सवालों का जवाब वह कई बार दे चुका था।

वह सप्ताह-भर का कार्यक्रम बना कर आया था, लेकिन घर के हालात और पिता के ठंडे क़िस्म के विरोध के आगे टिका रहना उसे दूसरे ही दिन से कठिन लगने लगा था। तीसरे रोज़ माँ की सिसकियों और बिट्टू तथा पिता के पथरीले मौन को पीछे छोड़ वह वापस अपनी दुनिया में लौट गया था। तब के बाद वह अब आया था—पूरे दो वर्ष बाद और इस दुनिया को पहले से अधिक कठिन और असह्य पा रहा था। पसीना पोंछते-पोंछते जब वह थक गया तो उसे ध्यान आया कि घर में पंखा नहीं है।

पंखा माँ के हाथ में था, जिसे वह चाय के गिलास के साथ उसके लिए लायी थी। पंखा और चाय का गिलास लेने के बाद उसने माँ से पानी के लिए कहा और तबाह होती इस दुनिया के अँधेरे को अपने भीतर

उतरता महसूस कर अपने पसीने पर हाथ का पखा झलने लगा।

क्या इस तवाही और अँधेरे की ज़िम्मेदारी अंततः उसी पर जाती है ? उसने सोचा। शायद हाँ, शायद नहीं।

यह चार साल पहले की वात है, जव वह ताज़ा-ताज़ा ग्रेजुएट हुआ था और अपने खुद के तथा पिता के सपनों को पूरा करने की ख़ातिर अपने शहर से निराश होकर अंततः राजधानी गया था।

हाँ, उसका भी एक सपना था। वह नमिता से प्रेम करता था और उससे शादी करके एक सुहानी-सी व्यक्तिगत दुनिया वसाना चाहता था। एक इस तरह की व्यक्तिगत दुनिया जिसमें वह हो और नमिता हो और तेज़ी से अपनी शिक्षा पूरी करता विट्टू हो और ज़िंदगी-भर खटने वाले पिता तथा पिसती हुई माँ इतमीनान की साँसों के साथ ज़िंदा हों। ज़्यादा वड़ी इच्छाएँ उसकी नहीं थीं। उसने इतना कम चाहा था कि सपना उधड़ न सके।

लेकिन सपना न सिर्फ़ उधड़ा था, वल्कि फट कर एक वदरंग चिथड़े में वदल गया था। माँ पानी ले आयी थी। उसने पानी पिया और चाय पीता हुआ माँ को देखने लगा जो वेतरह वुढ़ा गयी थी। उसने ग़ौर किया कि माँ का चेहरा और हाथ हिलने लगे हैं। फिर उसने पिता को देखा—वह अभी तक छत को घूर रहे थे। सहसा ही वह पिता के प्रति ममतालू हो उठा। अपना एक हाथ उसने पिता के माथे पर रख दिया।

तुरंत एक चमत्कार-सा हुआ। पिताजी की छत पर टँगी हुई आँखें उसके चेहरे पर आकर चिपक गयीं और उन्होंने फुसफुसाती आवाज़ में कहा, "मुझे तुम्हारे रहम की ज़रूरत नहीं है।"

जैसे विजली का झटका लगा हो। उसने अपना हाथ खींच लिया। पिता की आँखें फिर से छत पर चली गयीं।

"अरे, तेरी एक चिट्ठी आयी थी।" तभी माँ ने याद-सा करते हुए कहा, "देखती हूँ कहाँ रख दी, कई महीने हो गये।"

"किसकी थी ?"

"निम्मी की," माँ ने जवाव दिया और कमरे से वाहर चली गयी।

निम्मी ! याद के टाँके उधड़ गये और उसकी आँखों में निम्मी यानी

नमिता का गोल, गोरा चेहरा उभर आया। नमिता के इस गोल चेहरे को उसने अपनी दोनों हथेलियों के बीच लेकर उसका माथा और आंखें चूमी थी और एक गहरे विश्वास के साथ कहा था, 'इंतजार करना, मैं जल्दी ही आऊंगा। दिल्ली में जरूर ही कोई-न-कोई नौकरी मिल जायेगी और तब हमें शादी करने से कोई रोक नहीं सकेगा।'

'मुझे डर लग रहा है।' नमिता ने अपना सिर उसकी छाती पर रख दिया था, 'अकेले में मैं कमजोर पड़ जाती हूं। ऐसा नहीं हो सकता कि मैं भी तुम्हारे साथ चलूं ?'

'नहीं निम्मी, यह संभव नहीं होगा। अभी न घर है, न नौकरी। मैं खुद एक दोस्त के कमरे पर रहूंगा। मैं गया और आया। मुश्किल से दो-एक महीने लगेंगे। यक़ीन करो।'

और यही यक़ीन उसने मां को भी दिलाया था और मां से सौ रुपये लेकर दिल्ली चला गया था। यह चार साल पहले की बात है, जब नौकरी को लेकर रोज़ ही उसकी पिता के साथ तना-तनी हो जाती थी और पिता की नौकरी के अंतिम कुछ महीने ही बाक़ी रह गये थे और बिट्टू के हाईस्कूल के इम्तहानों का तथा नमिता के इंटर के इम्तहानों का परिणाम आना शेष था। तब नमिता की उम्र उन्नीस और उसकी बाइस साल थी।

बाइस साल की उम्र, जिसमें सिर्फ़ विश्वास होते हैं, उनके टूटने से उपजा चौंकाऊ आतंक और भयावह बियाबान नहीं। वह उस उम्र को लेकर दिल्ली गया था।

सबसे पहला विश्वास तब टूटा जब दिल्ली के दोस्त ने दूसरे ही दिन कह दिया कि उसे अपना इंतजाम कहीं और करना होगा। दोस्त आर० के० पुरम के एक सरकारी मकान में एक छोटे-से कमरे के भीतर अपनी पत्नी और दो बच्चों के साथ रहता था और एक सरकारी दफ़्तर में क्लर्क था। यह उसके उन दोस्तों में से था जिन्हें मुहावरे की भाषा में 'लँगोटिया' कहा जाता है। वह सन्न रह गया था और वहां से चलकर पुरानी दिल्ली की एक धर्मशाला में पहुंच गया था।

कुछ ही रोज़ बाद उसने पाया कि पैसे खत्म होने को हैं और नौकरी का कहीं कोई संकेत तक नहीं है। झक मारकर वह फिर दोस्त से मिला

और दोस्त ने निहायत ही झल्लाते स्वर में उससे पूछा, 'मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि बिना पैसे, बिना मकान और बिना काम के तुम्हें दिल्ली आने की हिम्मत पड़ी तो कैसे ?'

वह कहना चाहता था—'माँ, बिट्टू, पिता, नमिता, सपना, जीवन,' लेकिन उसके मुँह से निकला—'सिर्फ़ पचास रुपये उधार दे दो, यार ! जैसे भी होगा चुका दूँगा।'

'यहाँ यह सब बड़ा कठिन है भई,' दोस्त ने निरपेक्ष मुद्रा और ठंडा आवाज़ में कहा था, 'बजट इतना 'टाइट' रहता है कि पाँच रुपये भी 'अफ़ोर्ड' नहीं किये जा सकते। फिर भी, यह लो !' दोस्त ने पचास रुपये और पचास ही नसीहतें उसके मुँह पर दे मारी थीं। कम-से-कम उसे तो यही लगा था।

एक सप्ताह के भीतर ही वह फिर कंगाल हो गया और उसे लगा कि जीवन सचमुच बड़ी ख़तरनाक चीज़ है और ऐसे जीवन को जीते रहकर किसी भी शख्स से कोई भी वादा करना आत्महत्या कर लेने से कम तकलीफ़देह नहीं है।

आखिर उसे नौकरी मिली। जिस दिन उसे पता चला कि वास्तव में उसे अगले दिन से काम पर जाना है, वह हँस पड़ा। काम था एक किताबों की दूकान पर कैशमीमो बनाने का और वह भी केवल तीन महीने के लिए। तीन महीने के लिए उस दुकान की परमानेंट कर्मचारिणी, जिसकी जगह उसे काम मिला था, 'मैटरनिटी लीव' पर चली गयी थी।

यह काम भी उसे अपने दोस्त की बदौलत ही मिला था। दोस्त के दफ़तर की लाइब्रेरी इसी दुकान से हर साल पाँच हज़ार रुपये की किताबें खरीदा करती थी। दोस्त ने उसे तीन सौ नसीहतें और दीं और पाँच सौ रुपये महीने की इस नौकरी को मन लगाकर करने की सख्त हिदायत देते हुए विजय-दर्प से ऐंठ गया। उसने डरते-डरते दो सौ रुपये और उधार माँगे जो उसे मिल भी गये। फिर वह सौ रुपये महीने का एक खस्ताहाल कमरा किराये पर लेकर यमुनापार की एक निर्धन और फटेहाल बस्ती की तरफ़ लुढ़क गया।

वह नौकरी करता रहा और यह सोच-सोच कर चौंकता रहा कि

इतनी कठिन और बेमज़ा ज़िंदगी को भी लोग किस तरह सीने से चिपकाये बैठे हैं ? धीरे-धीरे उसका आश्चर्य अवसाद में ढलता रहा और एक सुबह सोकर उठने पर उसने पाया कि जिस उत्साह और प्रतिबद्धता की भावना लेकर उसने अपना शहर छोड़ा था उसका एक भी टुकड़ा उसके दिल में सुरक्षित नहीं रह सका है। एक अजीब तरह का वीतरागी अहसास उसने अपने भीतर उतरकर खड़ा हुआ महसूस किया। बात-बात पर झुंझला पड़ने और गाली-गलौज पर उतर पड़ने वाले किताबों की दुकान के मालिक, स्वयं को उसका भाग्यविधाता समझने वाले दोस्त, एक-दूसरे के ख़िलाफ़ प्राणपण से ज़हर उगलते दफ़्तर के साथियों, इंतज़ार करती नमिता की अपेक्षाओं और माँ, पिताजी तथा बिट्टू के प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों के अहसास तले छटपटाता वह दूसरे महीने की तनख्वाह लेने के दस दिनों बाद तक भी अपने शहर नहीं जा पाया। हालाँकि सोचा उसने यह था कि पहले महीने का वेतन मिलते ही दो-एक दिनों के लिए घर जायेगा और सभी लोगों को नये सिरे से हिम्मत बँधाकर आयेगा। यह वह आज तक तय नहीं कर पाया कि वह दूसरों को हिम्मत बँधाने के लिए घर जाना चाहता था, या अपनी टूटती हिम्मत को फिर से साबुत रूप में पाने के लिए जाना चाहता था।

पहले महीने के पाँच सौ रुपयों में से सौ रुपये दोस्त ले गया, सौ मकान-मालिक और डेढ़-सौ होटल वाला। बाक़ी डेढ़ सौ रुपये भी उसके अपने ऊपर ही काम आ गये। दूसरे महीने भी ऐसा ही हुआ और यह तय करने के बावजूद कि वह नयी नौकरी तलाश करेगा, नौकरी तलाश नहीं कर सका। सुबह नौ बजे से शाम सात बजे तक काम करने के बाद क्या वह बंद दफ़्तरों के चक्कर लगाता ? फिर तीसरे महीने का अंतिम दिन भी आ गया।

पचास रुपये की अन्तिम क़िस्त दोस्त को लौटाने और जल्दी वापस आने का वायदा कर, मकान-मालिक को सौ रुपये अग्रिम दे और कमरे में ताला लगा वह अपने घर लौटा।

अपने शहर की धरती पर उतरा तो जेब में तीन सौ रुपये थे। उनमें से वह पचास माँ को देना चाहता था और पूरे सौ रुपये नमिता पर ख़र्च

करना चाहता था। सौ रुपये दिल्ली लौटने के लिए बचाये रखना चाहता था और अन्तिम पचास रुपये में अपने लिए एक चमड़े की चप्पल और एक सस्ती-सी चादर ख़रीदना चाहता था। दिल्ली वाले कमरे में मच्छरों से बचने के लिए चादर ज़रूरी थी और इतनी सख़्त गरमी में जूते पहनना काफ़ी बड़ी यातना थी जिसे वह लम्बे समय से झेल रहा था और पीड़ित था।

घर पहुँचा तो माँ हमेशा की तरह रो पड़ी। एक-दो घंटे की पारिवारिक व्यस्तताओं से छुटकारा पाकर वह नमिता के घर जाने की तैयारी कर ही रहा था कि माँ ने उसे एक बन्द लिफ़ाफ़ा दिया। लिखावट देखते ही वह समझ गया कि चिट्ठी नमिता की है। उसने झटके से लिफ़ाफ़ा खोला और पत्र निकाला। वह एक छोटी-सी स्लिप थी जिसका संक्षिप्त-सा मज़मून पढ़ने और समझने और उस पर यक़ीन करने के लिए उसे कुरसी पर बैठना पड़ा। उस संक्षिप्त-से मज़मून ने पैरों में इतनी थकन भर दी थी जितनी थकन किताबों की दुकान में छह-सात घंटे मुसलसल खड़े रहकर काम करने से भी नहीं पैदा होती थी।

फ़िल्मी-से अन्दाज़ में लिखा था—'माफ़ कर देना। मैं अकेली थी। टूट गयी। लेकिन मेरा मन आज भी और हमेशा के लिए भी सिर्फ़ तुम्हारा है—नमिता।'

'नमिता का क्या हुआ?' उसने लगभग रोनी-सी आवाज़ में माँ से पूछा था और माँ ने बताया था—'पिछले महीने उसकी शादी हो गयी। वह आजकल मेरठ में है।'

वह देर तक बैठा रह गया था। फिर उठकर खड़ा हुआ था, लेकिन खड़ा न रह पाने के कारण फिर बैठ गया था। पाँच दिन बाद ही वह फिर दिल्ली में था। किसके लिए? यह स्पष्ट नहीं था। शायद माँ के लिए, शायद बिट्टू के लिए, शायद पिता के लिए, शायद अपने लिए और शायद अपनी आहत आकांक्षा को चुपचाप महसूसने के लिए। हर तर्क के आगे 'शायद' लगा हुआ था।

"यह मिल गयी।" माँ चिट्ठी ढूंढ़ लायी थी और बड़ी सहजता से बोली थी, "बुरा हुआ बेचारी निम्मी के साथ। अरे हाँ, वह यहाँ भी

आयी थी, तुम्हारा पता पूछ रही थी, पर तुमने पता दिया ही कहाँ ?" समाचार देते-देते माँ के स्वर में फिर से आरोपों और शिकायतों की भाषा तैर आयी थी।

वह एक पोस्टकार्ड था, जिसे उसने माँ के हाथ से लगभग छीन लिया। पोस्टकार्ड का कोना फटा हुआ था और उस पर केवल तीन वाक्य लिखे थे जो अब काफ़ी धूमिल हो गये थे।

पहला वाक्य था—'प्रिय विज्जी' और अंतिम वाक्य था—'तुम्हारी निम्मी'। इन दोनों के बीच में जो संदेश था उसकी वजह से पोस्टकार्ड के कोने को फटना पड़ा था। काफ़ी देर तक वह पोस्टकार्ड उसकी उँगलियों के बीच लड़खड़ाता रहा और उसका संदेश मिटता और उभरता रहा। फिर उसने पोस्टकार्ड को मोड़कर जेब में रख लिया और आहिस्ता से बोला, "विट्टू को क्या हुआ था।"

"बिट्टू को ?" माँ बहुत ज़ोर से चौंकी और फिर सिसकियाँ भरने लगी। वह समझ गया कि अब देर लग जायेगी। उसने माँ के कमज़ोर स्थल को दुखा दिया था। लेकिन वह क्या करता ? निम्मी का संदेश पढ़कर जिस तरह उसके दिमाग़ के बीसियों टुकड़े हो गये थे उन्हें समेटने के लिए किसी दूसरे बड़े दुख से टकराना ज़रूरी था।

"बिट्टू बेचारे ने ज़हर खा लिया था।" माँ की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी थी।

"ज़हर ?" इस बार उसे चौंकना पड़ा।

"हाँ !" माँ ने धोती के पल्लू से अपनी आँखों को सुखाने की असफल कोशिश करते हुए कहा, "तेरे पिताजी को टाइफ़ाइड हो गया था और घर में एक भी पैसा नहीं था। उनकी तबीयत बिगड़ती चली गयी तो बिट्टू ने अपने मालिक से दो सौ रुपये उधार माँगे जो उसने नहीं दिये। फिर...!" माँ चुप पड़ गयी।

"फिर ?" वह माँ के चुप हो जाने से झल्ला उठा।

"फिर उसने मालिक के पैसे चुरा लिये।" माँ धोती के पल्लू से अपना मुँह छुपाकर रो पड़ी और टुकड़ों-टुकड़ों में पूरी कहानी बयान कर दी कि कैसे बिट्टू ने गल्ले से दो सौ रुपये चुराये और जेब में रख लिये,

के रूप में ही विकसित होगा और जियेगा। उसने पूरी शिद्दत के साथ स्वीकार किया था कि सचमुच, उसके पास है क्या जिसे वह खो देगा! बेहद ग़रीब क़िस्म के सपने भी तो साथ नहीं रह सके थे। अभी तक उसने क्या किया? अपने अशक्त अरमानों और कमज़ोर इच्छाओं को तिल-तिल कर मरता देखने के सिवा उसने क्या किया और आगे भी क्या कर सकता है वह? इतनी विकृत स्थितियों में जीते रहकर कल की आस में साँस लेते रहने से भला कौन-सी समस्या हल हो सकती है? वह सोचता रहा और अपने को तौलता रहा और आखिरकार वह निर्मल भाई के दल में शामिल हो ही गया।

एक गहरा आत्मविश्वास अपने भीतर महसूसते हुए उसने कड़क आवाज़ में सोचा था—'जिस दुनिया में अपनी मनपसंद ज़िंदगी न गुज़ारी जा सके, अपनी प्रेयसी से विवाह न किया जा सके, अपने भाई को पढ़ाया न जा सके, अपने अशक्त माँ-बाप को आराम न दिया जा सके, और जिस दुनिया में अपना छोटा-मोटा सपना भी पूरा न किया जा सके, उस दुनिया को बदलना होगा।' वह निर्मल भाई के प्रति एक गहरे सम्मान से भर उठा, जिन्होंने उसे एक निरर्थक और टुच्चे और असंभव संघर्ष के दलदल से निकाल कर एक सही और ज़रूरी और सार्थक युद्ध की ज़मीन पर खड़ा किया। जिस अमानवीय दुनिया में वह अभी तक साँस ले रहा रहा था उस दुनिया के ख़िलाफ़ खड़े लोगों के बीच जाकर उसे पहली बार लगा था कि जीवन इतना सस्ता और बदसूरत नहीं है कि उसे वहशी और क्रूर लोगों की सनकों और खिलवाड़ के आगे निर्विरोध फेंक दिया जाये। क्रूर और अमानवीय लोगों की एक बहुत बड़ी जमात के साये में पूरी उम्र डर-डर और घिसट-घिसट कर गुज़ारने की तुक भी क्या है? ज़िंदगी-भर ज़िंदगी बचाये रखने का संघर्ष आदमी इसलिए तो नहीं करता कि अपनी आँखों के सामने अपनी तमन्नाओं का संसार जलता हुआ देखता रहे और सिर पटकता रहे।

निर्मल भाई ने एक रात एक कविता पढ़कर सुनायी थी—'मुक्ति के रास्ते अकेले नहीं मिलते।' नहीं, वह आज भी कह सकता है कि उसका निर्णय किसी चोट खाये साँप के अंधे क्रोध की तरह फुफकार-भरा नहीं

था। उसके निर्णय में निराश आदमी की अंतिम कोशिश वाली छटपटाहट या कैशौर्य-सुलभ रोमांच भी नहीं था। कई रातें जागकर, बेहद ठंडे मन-मस्तिष्क के साथ उसने निर्मल भाई को सुना था। उन्हीं की तरह के तमाम अन्य लोगों के बीच वह कई दिनों तक उठता-बैठता रहा था। उन सब के कठिन, मुसीबत-भरे और असुरक्षित जीवन को नजदीक से देखा-पढ़ा था। उनके साहस और उनकी नफ़रत को जाना-परखा और नापा था। उनके त्याग से भौंचक हुआ था। उनमें से कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्हें बिना किसी दिक़्क़त के सुख-सुविधा-संपन्न ज़िंदगी हासिल हो सकती थी। निर्मल भाई का एक साथी मैडिकल इंस्टीट्यूट में डॉक्टर रह चुका था। एक अन्य साथी जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का गोल्ड मैडेलिस्ट था, जिसने ऊँची नौकरी पर लात मार कर इस ज़िंदगी का चुनाव किया था। खुद निर्मल भाई हिंदी-अंगरेज़ी में फ़र्स्ट क्लास एम०ए० थे और उनकी पत्नी रूसी भाषा की गहरी जानकार थी। और वह खुद...! थर्ड क्लास ग्रेजुएट। अगरेज़ी में ज़ीरो। ज़िंदगी के हाशिए पर ठिठका हुआ एक सामान्य नागरिक! और उसने यह निर्णय ले लिया था कि अपनी ज़िंदगी वह चार-पाँच या छह सौ रुपल्ली के लिए किसी सनकी, ज़ुल्मी और खूनचूस आदमी या संस्था के नाम नहीं लिखेगा, बल्कि इस सड़े हुए, मनुष्य-विरोधी संसार से अलग अपना एक नया संसार बसायेगा और उसने यही किया था। नहीं, उसने बिलकुल भी ग़लत नहीं किया था। वह अपराधी तो है ही नहीं।

उसने माँ को देखा वह पत्थर की प्रतिमा बनी बैठी थी। पिता को देखा—वह सो गये थे।

"खर्चा कैसे चलता है?" उसने अचानक ही माँ की खामोशी को खुरच दिया।

"पेंशन के तीन सौ रुपयों से।" माँ ने जवाब दिया और उठकर खड़ी हो गयी। फिर आहिस्ता से बोली, "खिचड़ी बनायी थी, खा लेगा न?"

'जल्दी ले आओ," उसने हँस कर जवाब दिया और पंखा झलने लगा। माँ के बाहर जाने पर उसने फिर से फटे कोने वाला पोस्टकार्ड निकालकर पढ़ा और न चाहते हुए और खुद को ज़ब्त करते-करते भी रुआँसा

के रूप में ही विकसित होगा और जियेगा। उसने पूरी शिद्दत के साथ स्वीकार किया था कि सचमुच, उसके पास है क्या जिसे वह खो देगा! बेहद ग़रीब क़िस्म के सपने भी तो साथ नहीं रह सके थे। अभी तक उसने क्या किया? अपने अशक्त अरमानों और कमज़ोर इच्छाओं को तिल-तिल कर मरता देखने के सिवा उसने क्या किया और आगे भी क्या कर सकता है वह? इतनी विकृत स्थितियों में जीते रहकर कल की आस में साँस लेते रहने से भला कौन-सी समस्या हल हो सकती है? वह सोचता रहा और अपने को तौलता रहा और आख़िरकार वह निर्मल भाई के दल में शामिल हो ही गया।

एक गहरा आत्मविश्वास अपने भीतर महसूसते हुए उसने कड़क आवाज़ में सोचा था—'जिस दुनिया में अपनी मनपसंद ज़िंदगी न गुज़ारी जा सके, अपनी प्रेयसी से विवाह न किया जा सके, अपने भाई को पढ़ाया न जा सके, अपने अशक्त माँ-बाप को आराम न दिया जा सके, और जिस दुनिया में अपना छोटा-मोटा सपना भी पूरा न किया जा सके, उस दुनिया को बदलना होगा।' वह निर्मल भाई के प्रति एक गहरे सम्मान से भर उठा, जिन्होंने उसे एक निरर्थक और टुच्चे और असंभव संघर्ष के दलदल से निकाल कर एक सही और ज़रूरी और सार्थक युद्ध की ज़मीन पर खड़ा किया। जिस अमानवीय दुनिया में वह अभी तक साँस ले रहा रहा था उस दुनिया के ख़िलाफ़ खड़े लोगों के बीच जाकर उसे पहली बार लगा था कि जीवन इतना सस्ता और बदसूरत नहीं है कि उसे वहशी और क्रूर लोगों की सनकों और खिलवाड़ के आगे निर्विरोध फेंक दिया जाये। क्रूर और अमानवीय लोगों की एक बहुत बड़ी जमात के साये में पूरी उम्र डर-डर और घिसट-घिसट कर गुज़ारने की तुक भी क्या है? ज़िंदगी-भर ज़िंदगी बचाये रखने का संघर्ष आदमी इसलिए तो नहीं करता कि अपनी आँखों के सामने अपनी तमन्नाओं का संसार जलता हुआ देखता रहे और सिर पटकता रहे।

निर्मल भाई ने एक रात एक कविता पढ़कर सुनायी थी—'मुक्ति के रास्ते अकेले नहीं मिलते।' नहीं, वह आज भी कह सकता है कि उसका निर्णय किसी चोट खाये साँप के अंधे क्रोध की तरह फुफकार-भरा नहीं

था। उसके निर्णय में निराश आदमी की अंतिम कोशिश वाली छटपटाहट या कैशौर्य-सुलभ रोमांच भी नहीं था। कई रातें जागकर, बेहद ठंडे मन-मस्तिष्क के साथ उसने निर्मल भाई को सुना था। उन्हीं की तरह के तमाम अन्य लोगों के बीच वह कई दिनों तक उठता-बैठता रहा था। उन सब के कठिन, मुसीबत-भरे और असुरक्षित जीवन को नजदीक से देखा-पढ़ा था। उनके साहस और उनकी नफ़रत को जाना-परखा और नापा था। उनके त्याग से भौंचक हुआ था। उनमें से कुछ लोग ऐसे भी थे जिन्हें बिना किसी दिक़्क़त के सुख-सुविधा-संपन्न ज़िंदगी हासिल हो सकती थी। निर्मल भाई का एक साथी मैडिकल इंस्टीट्यूट में डॉक्टर रह चुका था। एक अन्य साथी जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का गोल्ड मैडेलिस्ट था, जिसने ऊँची नौकरी पर लात मार कर इस ज़िंदगी का चुनाव किया था। खुद निर्मल भाई हिंदी-अंगरेज़ी में फ़र्स्ट क्लास एम०ए० थे और उनकी पत्नी रूसी भाषा की गहरी जानकार थी। और वह खुद...! थर्ड क्लास ग्रेजुएट। अंगरेज़ी में जीरो। ज़िंदगी के हाशिए पर ठिठका हुआ एक सामान्य नागरिक! और उसने यह निर्णय ले लिया था कि अपनी ज़िंदगी वह चार-पाँच या छह सौ रुपल्ली के लिए किसी सनकी, जुल्मी और खूनचूस आदमी या संस्था के नाम नहीं लिखेगा, बल्कि इस सड़े हुए, मनुष्य-विरोधी संसार से अलग अपना एक नया संसार बसायेगा और उसने यही किया था। नहीं, उसने बिलकुल भी ग़लत नहीं किया था। वह अपराधी तो है ही नहीं।

उसने माँ को देखा वह पत्थर की प्रतिमा बनी बैठी थी। पिता को देखा—वह सो गये थे।

"खर्चा कैसे चलता है?" उसने अचानक ही माँ की खामोशी को खुरच दिया।

"पेंशन के तीन सौ रुपयों से।" माँ ने जवाब दिया और उठकर खड़ी हो गयी। फिर आहिस्ता से बोली, "खिचड़ी बनायी थी, खा लेगा न?"

'जल्दी ले आओ," उसने हँस कर जवाब दिया और पंखा झलने लगा। माँ के बाहर जाने पर उसने फिर से फटे कोने वाला पोस्टकार्ड निकालकर पढ़ा और न चाहते हुए और खुद को ज़ब्त करते-करते भी रुआंसा

हो गया।

'प्रिय विज्जी' और 'तुम्हारी निम्मी' के बीच वसीट में लिखा हुआ था—'नहीं जानती कि तुम्हें मेरे वैधव्य की सूचना पाकर कैसा लगेगा! पर मुझे यह बताते हुए कोई ग्लानि नहीं हो रही कि जिस मन से इस विवाह को स्वीकार करना पड़ा था, उस मन के क़ायम रहते, इस वैधव्य ने मुझे ज़रा भी नहीं छुआ है।'

उसकी आँखें नमिता के वैधव्य को लेकर नम नहीं हुई थीं। वे नम हुई थीं नमिता के मन को लेकर। नमिता का मन, जिसमें विज्जी नाम का एक लड़का पसरा हुआ था और जो विवाह के बाद भी वहीं पसरा रह गया था। क्यों होती हैं ऐसी शादियाँ, जिनमें औरत का तन किसी के पास और मन किसी के पास रह जाता है? हाँ, दिल्ली से लौटकर जब वह नमिता को यह दिलासा देने आया था कि 'वह हिम्मत न हारे और कुछ दिन और इंतज़ार करे', लेकिन पाया उसने यह था कि उसका तो विवाह भी हो गया है तो नमिता की चिट्ठी पढ़ते हुए उसने यही सोचा था कि माँ और बाप तक के रिश्ते इतने क्रूर क्यों होते हैं?

आज उसे पता है कि तब की यह प्रतिक्रिया उसके कैशोर्य मन की आहत चीख थी। आज वह जानता है कि रिश्ते तो मधुर और मानवीय ही होते हैं। मगर उन्हें अमानवीय और ज़हरीला बना दिया जाता है। पुत्र को पिता के, माँ को बेटी के, भाई को भाई के और दोस्त को दोस्त के विरुद्ध खड़ा करने के षड्यंत्र रचे जाते हैं, ताकि उन लोगों के विरुद्ध कोई खड़ा होने की बात सोच भी न सके जो दुनिया-भर के आँसुओं और दुखों और तकलीफ़ों के सचमुच ज़िम्मेदार होते हैं।

स्थितियों को उलझा दिया जाता है, दिमाग़ को भटका दिया जाता है और आदमी को अकेला कर दिया जाता है। और अकेला आदमी नहीं जानता कि वह धीरे-धीरे अपना मूल रूप से अच्छा और मानवीय स्वभाव छोड़ कर स्वार्थी, आत्ममुग्ध, आत्म-केंद्रित, अमानवीय और आत्म-हंता बनता जाता है और इस तरह अंततः उन लोगों के तंत्र को मज़बूत करता है जो तमाम तरह की नैतिकताओं और मानवीयताओं से ऊपर उठ कर एक ऐसी जोंक में बदल चुके हैं जिसका धर्म है खून चूसना।

नहीं, ये बातें उसे पहले नहीं पता थीं, वरना वह दिल्ली जाते समय नमिता को अपने साथ न ले जाता ! नमिता ने तो खुद ही कहा था —'ऐसा नहीं हो सकता कि मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ ?'

माँ खिचड़ी ले आयी थी। खिचड़ी देखकर उसे याद आया कि वह कितना भूखा है। सुबह से कुछ भी तो पेट में नहीं गया था। जब तक उसने खिचड़ी खायी, माँ पानी ले आयी। उसने पानी पिया और गिलास तथा प्लेट लेकर आँगन में आ गया। दोनों को हैंडपंप के पास रखे जूठे बरतनों के बीच रख उसने एक भरपूर नज़र आँगन में दौड़ायी और आँगन के उस चार बरस पहले के रूप को याद किया जो आज काफ़ी बदला हुआ और खस्ताहाल लग रहा था। आँगन के जिस कोने में पहले तुलसी का पेड़ हुआ करता था वहाँ अब लंबी-लंबी घास उग आयी थी। हैंडपंप के चारों ओर गहरी काई जम गयी थी। कमरे की बाहरी दीवारों का प्लस्तर जगह-जगह से उखड़ गया था और पूरा घर एक मुस्तक़िल सन्नाटे और गहरे अवसाद में डूबा खड़ा था। कुछ चीज़ें ग़ायब हो गयी थीं—मसलन पिता की साइकिल, पीतल के दोनों बड़े कलसे और बिट्टू का कोडक का कैमरा। बिट्टू को फ़ोटोग्राफ़ी का शौक था और उसने पूरे तीन साल तक अपना जेबखर्च बचा-बचा कर वह कैमरा लिया था। रसोई में बहुत कम बरतन रह गये थे, जब कि दूसरा कमरा एकदम ग़रीब और नंगा था। लकड़ी की कपड़ों वाली बड़ी अलमारी भी ग़ायब थी और उसका किताबों से भरा हुआ लकड़ी का बड़ा बक्सा किताबों सहित अनुपस्थित था। एक बहुत पुराने डिज़ाइन की ड्रेसिंग टेबल थी जिसे माँ अपने दहेज में लायी थी और एक पुराने ज़माने की याद दिलाता सोफ़ासेट था जिसके बारे में उसने सुना था कि इसे पिता ने उसके पहले जन्मदिन के मौके पर खरीदा था। ये दोनों ही चीज़ें नहीं थीं।

किताबों के न रहने पर उसे दुख नहीं हुआ, क्योंकि उनमें शायद ही कोई ऐसी किताब थी जिसे संभाल कर रखना ज़रूरी हो। ज़रूरी किताबों से उसका परिचय तो दिल्ली में निर्मल भाई ने ही कराया था।

पिता वाले कमरे में वापस लौट कर उसने माँ से पूछा, "निम्मी कहाँ है आजकल ?"

"यहीं है। ससुराल वालों ने तो उसे मनहूस बताकर कुछ ही दिनों बाद निकाल दिया था। यहाँ आयी थी वो। सब बता गयी। पति भी कोई बहुत अच्छा नहीं था। एक दिन शराब पीकर लौट रहा था कि एक कार से टकरा गया। निम्मी बेचारी ने तीन बोतल खून दिया अस्पताल में। फिर भी उसका पति नहीं बचा। सिर जो फट गया था।" माँ ने एक साँस में पूरी कहानी बयान कर दी और फिर तेज़-तेज़ बोलने की अपनी आदत लेकिन असामर्थ्य के कारण हाँफने लगी।

"मैं ज़रा होकर आऊँ क्या?" उसने पूछा।

"चले जाना, थोड़ी धूप ढलने दे। मार गरमी बरस रही है बाहर।"

पर यह जानकर कि नमिता यहीं है वह रुक नहीं सका और घर से बाहर आ गया।

दरवाज़ा खोलने वाली लड़की को देख वह अचकचा गया। आकर्षक देह, भरा हुआ सीना, और गोल चेहरा बिलकुल नमिता जैसा। बॉबकट बाल और लेटेस्ट डिज़ायन की सलवार-कमीज़, स्लीवलैस। पैरों में कोल्हापुरी चप्पल। वह हड़बड़ा गया और उसी हड़बड़ाहट में बोला, "आप? माधवप्रसाद जी का मकान यही है न?"

"बिलकुल यही है, पर वे इस समय दुकान पर हैं।"

"आंटी होंगी?"

"आंटी मतलब?" लड़की थोड़ा पसोपेश में पड़ गयी, फिर चहकती-सी बोली, "यू मीन ममी!"

"अरे!" उसे अचानक याद आ गया, "तुम सविता हो क्या, निम्मी की छोटी...?"

"बहन!" वाक्य लड़की ने पूरा किया और मुसकरा दी। फिर माथे पर पड़ी लकीरों को सहलाती हुई बोली, "आप?"

"मैं विजय हूँ। नहीं पहचाना?" उसने थोड़ा सहज होकर जवाब दिया और गहरे आश्चर्य में घिर कर सोचा, चार बरस में शक्लें इस क़दर बदल जाती हैं क्या? यह तो छोटी-सी, पतली-दुबली लड़की हुआ करती थी। माना कि लड़की जवान होते ही तेज़ी से बदल जाती है, लेकिन क्या

उसकी अपनी शक्ल भी इस क़दर बदल गयी है जो पहचान से परे चली जाये ?

"अरे, आप तो एकदम बदल गये। सच्ची, लगता ही नहीं कि यह आप हैं।" सविता ने उसके लिए रास्ता छोड़ दिया और शालीनता से बोली, 'आइए, भीतर आइए। माँ घर में हैं और नमिता-दी भी हैं।" अन्तिम वाक्य उसने शरारत-भरी हँसी के साथ कहा, जिसका आनन्द लेने के बजाय वह उदास हो गया।

"पहले चश्मा नहीं लगाते थे आप। दाढ़ी कितनी बढ़ा ली है और कितने दुबले भी हो गये हैं। सिर के बाल भी कितने उड़ गये हैं। भला मैं पहचानती भी तो कैसे ?" सविता ने तर्क प्रस्तुत किये और उसे लेकर बैठक में आ गयी, जहाँ प्रवेश करते ही उसका दिल तेज़ी से धड़कने लगा। दीवान पर जो लड़की सो रही थी वह नमिता थी। उसकी निम्मी। वह हतप्रभ रह गया। यह वह नमिता नहीं थी जिसे चार बरस पहले वह यहाँ छोड़ गया था।

"दीदी उठो, देखो कौन आया है ?" सविता ने नमिता को झिझोड़-सा दिया और उठाकर बिठा दिया तथा खिलखिल कर हँसने लगी।

भौंचक नमिता ने अपनी आँख मली और चेहरे को प्रश्नानुकूल बनाते हुए उसकी तरफ़ देखा। वह सविता के अनुरोध के बावजूद अभी तक खड़ा था और वह भी नमिता के ऐन सामने।

नमिता दो-तीन पल उसे देखती रही। पहले नमिता की आँखें चौड़ी हुईं, फिर क्रमशः छोटी होती गयीं और अन्ततः उन आँखों में एक गहरा दुख झिलमिलाने लगा। एकदम तरल दुख। बिना किसी ध्वनि के नमिता के होंठों ने चौंकते हुए एक नाम लिया और उन फड़फड़ाते हुए होंठों को एकटक देखने वाला वह फ़ौरन समझ गया कि उन होंठों ने पहले 'तुम' और इसके तुरन्त बाद 'बिज्जी' कहा है।

'हाँ, मैं।' उसने गंभीरता से कहा और सोफे पर बैठ गया।

'बिज्जी।' नमिता ने कहा और खड़ी हो गयी। उसकी आँखें बहने लगी थीं और नमिता उन बहती हुई आँखों को सम्भालती हुई बैठक से बाहर निकल गयी थी और उसी के पीछे-पीछे गयी थी उसकी अपनी

नज़र ।

वह चुप बैठा अपने दिल और दिमाग़ को अनुशासित करने का प्रयास करता रहा और पहलू बदलता रहा । इस बीच सविता पानी रख गयी थी और उसकी बेचैनी जैसे पानी के गिलास में गिरकर छटपटाने लगी थी । उसने झटके से गिलास उठाकर मुँह में लगाया था और एक साँस में जितना पानी पी सकता था, पीकर हाँफने लगा था ।

उसने सोचा था, नमिता एक भरी पूरी औरत में बदल गयी होगी, लेकिन वह पहले से भी अधिक कमज़ोर और दयनीयता की हद तक निरीह लगने लगी थी । यही है प्रेम ! उसने नमिता की देह को अपने दिल-दिमाग़ में महसूस करते सोचा और नसों को ऐंठता हुआ पाया । लेकिन क्या गारंटी है कि उसके साथ रह कर भी वह वैसी ही नहीं हो जाती ? शायद नहीं होती । उसने स्थिति को अपने पक्ष में कर लिया, क्योंकि नमिता की इस हालत की ज़िम्मेदारी कुपोषण पर नहीं, मन में लगे घुन पर जाती है । घुन जो कुतरता आत्मा, को है लेकिन छलनी देह को भी होना पड़ता है ।

और नमिता की देह छलनी ही थी । छाती समतल थी और आँखें गड्ढों के भीतर । चेहरा निस्तेज और शरीर जर्जर और आत्मा..., उसने सोचा और प्रेम के प्रति नमिता की इस अनोखी प्रतिबद्धता को देख दंग रह गया । ऐसे प्रेम से वंचित रह जाने का दुख उसकी चेतना पर उतरते ज्वार-सा बैठने लगा । तभी कमरे में माँ ने प्रवेश किया और उसे उठकर खड़ा होना पड़ा । उसने माँ के पैर छुए और उनका आशीर्वाद लिया । फिर माँ दीवान पर बैठ गयी । और वह सोफ़े पर । पहले की तरह, अपने में गुम ।

सन्नाटा काफ़ी देर तक कमरे में टहलता रहा और वह अपने बोझ-तले छटपटाता माँ से बात करने के लिए उपयुक्त शब्दों की तलाश करता रहा । यह निम्मी की माँ ही थीं जो उसे बहुत चाहती थीं और उसकी तारीफ़ करते नहीं थकती थीं । और वह भी निम्मी की ही माँ थीं, जिन्होंने उसके दिल्ली जाते ही नमिता को उसकी ज़िन्दगी से हटा दिया । वह सोच सकता है कि इसमें ज़्यादा बड़ी भूमिका निम्मी के पिता की ही रही होगी, क्योंकि उसकी तारीफ़ करने के बावजूद वे निम्मी के साथ प्रगाढ़ होते

उसके सम्बन्धों को लेकर अकसर ही नाखुश और उत्तेजित रहा करते थे, लेकिन माँ को एकदम मासूम कैसे माना जा सकता है ? उन्हें तो नमिता के साथ उसके अन्तरंग और फैसलाकुन रिश्ते की भनक थी। यह ठीक है कि नमिता के पिता कपड़ों के व्यापारी थे और सम्बन्धों को व्यापारिक दृष्टि-कोण से देखना उनकी मजबूरी थी। वे नमिता के लिए पढ़ा-लिखा, समझदार लड़का तो चाहते थे, लेकिन इस बात को गवारा करना उनके लिए नामुमकिन था कि वह लड़का विजय जैसा बेकाम और आर्थिक स्तर पर लड़खड़ाता हुआ, निराधार आदमी हो। लेकिन माँ के सोचने का ढंग तो काफ़ी प्रगतिशील क़िस्म का था और क्या इन्हें नहीं चाहिए था कि...?

लेकिन तभी उसे ख़याल आया कि वह नितान्त अपढ़ और भावुक आदमी की तरह स्थितियों का विश्लेषण कर रहा है और यह ख़याल आते ही उसने अपनी सोच को उस दिशा में और बहकने से बचा लिया तथा माँ से पूछा, "अब क्या सोचा है ?"

शायद उसके शब्दों में सच्चा अपनापा और गहरी संवेदना थी। माँ एकदम बिखर गयीं और उनकी धोती का पल्लू आँखों पर चला गया।

"अभी उमर ही क्या है अभागन की।" माँ ने टिपिकल मध्यवर्गीय माँओं की तरह भूमिका-सी बनाते हुए जवाब दिया, "इसी बीस को चौबीसवाँ लगा है।"

उसे याद आया, बीस जून निम्मी के जन्म की तारीख़ है। आज बाईस थी। तेईस साल। वह अनायास ही भीतर तक अवसादग्रस्त होता चला गया। इतनी कम उम्र में एक लड़की के जीवन का एक अध्याय समाप्त हो गया। एक नहीं, सबसे महत्वपूर्ण अध्याय। जिस उम्र में लड़कियाँ नये जीवन में प्रवेश करती हैं, उस उम्र में नमिता जीवन से थक चुकी है, जीवन से बाज़ आ गयी है।

"कोई अच्छा-सा लड़का देखकर फिर से इसका घर बसाना होगा न ?" माँ ने उसकी सोच की गति को एक ठहराव-सा देते हुए, अप... निर्णय दिया। निर्णय, जो प्रश्न की शक्ल में आया था और ... अ... मोदन भी माँगा गया था। क्या अब भी मेरे बारे में ... सकता ? उसने एक ईमानदार चाहना और अन्तरंग ...

और सोचते ही लगा कि उसने ग़लत सोचा है। आज जिस जीवन को वह जी रहा है उसमें यह चाह कहीं भी अँट नहीं सकती। अब तो वह चाहे तो भी यह चाह अपना स्थान नहीं बना सकती। पर, माँ को तो कोई जवाब देना ही था। वह अभी तक उसके बोलने की प्रतीक्षा में थीं, सो वह आहिस्ता से बोला, "निम्मी की क्या मरज़ी है?"

"उसकी मरज़ी से चलेंगे तो हो लिया।" माँ ने मुंह बनाकर जवाब दिया, "कहती है, नौकरी करेगी और दूसरा विवाह नहीं करेगी।"

"हूं।" उसके मुंह से एक थकी हुई साँस निकली। थकी हुई और परेशान और आहत।

तभी कपड़े बदलकर और मुंह-हाथ धोकर निम्मी ने चाय के साथ कमरे में प्रवेश किया और उसके मन में फिर कुछ अवांछित चाहनाएँ सम्भल-सम्भल कर उठने लगीं।

"तुम क्या कर रहे हो दिल्ली में?" माँ का सवाल उसके कानों से टकराया और उसके हाथ में चाय का प्याला छलक गया। वह सोच नहीं सका कि माँ को क्या जवाब दे? खासकर निम्मी की उपस्थिति में, जिसका चेहरा आँखों समेत सतर्क हो आया था।

"मैं...," उसे कुछ नहीं सूझा तो उसने कहा, "मुझे अभी तक कोई क़ाम नहीं मिल पाया।" ऐसा कहते ही उसने पाया कि माँ के चेहरे पर संताप और निम्मी के चेहरे पर अफ़सोस-भरी पीड़ा उतर आयी है।

"च्च, च्च!" माँ हमदर्दी से भर उठी, "कैसा ज़माना आ गया है! तो शादी वगैरह तो नहीं की होगी?"

"बिना नौकरी के अपनी लड़की कौन देता है?" वह अचानक ही विवेक का पल्ला झाड़कर कटु हो आया। उसके इस जवाब से माँ ने अपराधी-सा हो अपना सिर लटका लिया और नमिता की आँखें नम हो गयीं।

"बड़ी दिक़्क़त होगी तब तो?" माँ ने जैसे अपने-आपको सुनाकर कहा।

"नहीं, दिक़्क़त कोई नहीं है।" उसने हँसकर जवाब दिया और चाय पीने लगा। तब तक माँ ने अपनी चाय खत्म कर दी थी और उठकर खड़ी

हो गयी थीं। माँ के उठने तक वह भी अपनी चाय समाप्त कर उठ खड़ा हुआ। सिर्फ़ नमिता ही बैठे-बैठे अपनी चाय को धीरे-धीरे सिप करती रही।

"इसे समझाओ, बेटे!" माँ ने उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, "हम लोगों ने एक लड़का देखा है। बैंक में नौकरी करता है और उम्र भी कोई खास नहीं, होगा कोई पैंतीस-एक साल का। वह शादी करने को तैयार है। उसके दो भाई हैं और दोनों विदेश में हैं। पिता की अपनी दुकान है अलग। एक छोटा बच्चा है, चार साल का। पहली बीवी पाँच-एक महीने हुए, गुज़र गयी। सुंदर है, सेहत वाला है और सबसे बड़ी बात, स्वभाव का अच्छा है। इसको पसन्द भी कर गया है, लेकिन यह कमबख्त है कि नौकरी करने की रट लगाये हुए है। हम लोग तो थक गये। तुम्हीं समझाओ। ऐसे लड़के कहीं बार-बार हाथ आते हैं! तुम समझाओ न इस करमजली को। मुझे यक़ीन है कि तुम्हारी बात इसके पल्ले पड़ जायेगी।" माँ ने पूरी कथा पढ़ डाली और उसके कंधों पर भारी ज़िम्मेदारी का बोझ डाल, स्वयं हलकी होकर भीतर चली गयीं। उसने अपनी नज़रों से जाती हुई माँ का पीछा किया और 'ऐसे लड़के बार-बार हाथ नहीं आते' जैसे बेहूदे वाक्यों को घसीट-घसीट कर अपनी चेतना से बाहर निकाला। मन बुरी तरह खिन्न हो आया था।

माँ के जाते ही उसने चेहरा उठाकर नमिता की तरफ़ देखा। नमिता उसी को देख रही थी। नमिता की आँखें कुछ इस तरह से तरल थीं कि वह न चाहते हुए भी कमज़ोर पड़ने लगा। उसने सोचा कि वह कुछ कहे, लेकिन शब्द ज़बान तक आने से पहले ही डूब गये। वह लगातार नमिता की आँखों से अपनी आँखें मिलाये रहा और उसके होंठ बिना किसी शब्द के फड़फड़ाते रहे। वह कहना चाहता था—निम्मी! यह कैसा प्रेम था हमारा कि हम इस स्थिति को प्राप्त हुए? एक तुम्हारा वर्तमान है जो पूरी शिद्दत से चाहता है कि उसमें मैं शामिल हो जाऊँ। एक मेरा वर्तमान है जिसे आज भी तुम्हारी बहुत सख्त ज़रूरत है। वह कहना चाहता था—निम्मी! हम अपने अतीत को पोंछ नहीं सकते क्या? ऐसा कब तक चलेगा कि हमारा एक पाँव वर्तमान में और एक अतीत में टिका रहे? तुमने सुना

है न, कि दो नावों में सवार होने वाले यात्री को डूबना ही होता है! तो क्या हम भी अन्ततः डूबकर ही रहेंगे? हम किसी एक नाव का चुनाव नहीं कर सकते क्या? वह कहना चाहता था...।

तभी थरथराती हुई आवाज़ में निम्मी ने कहा, "विज्जी!" वह सिहर गया। एक तेज़ और ऐंठा हुआ दर्द उसने निम्मी की आवाज़ में एकदम साफ़-साफ़ देख लिया था।

"विज्जी!" नमिता ने फिर प्रयत्न किया, "तुम...तुम देह को तो नहीं चाहते थे न?"

उसके दिमाग़ में विना आवाज़ किये एक विस्फोट-सा हुआ और इस विस्फोट को महसूस करने के दूसरे ही क्षण उसने पाया कि वह एक कमज़ोर और भावुक प्रेमी में तब्दील होता जा रहा है। वह समझ गया नमिता कहाँ से बोल रही है। उसने जवाब नहीं दिया, लेकिन नमिता समझ गयी कि विजय ने अपनी चेतना के एक-एक तंतु से कहा है --'नहीं।'

"तो फिर?" नमिता का साहस अपना क़द निकालने लगा, "तो फिर तुम माँ को क्यों नहीं समझाते कि मैं क्या चाहती रही हूँ और आज भी क्या चाहती हूँ? क्या इस बार भी तुम अकेले ही दिल्ली लौट जाओगे?" नमिता ने रुक-रुक कर कहा और कहने के वाद आँखें झुका लीं।

वह हैरान रह गया। इसलिए नहीं कि नमिता के मुँह से निकले शब्दों की उसने कल्पना नहीं की थी। वह हैरान था कि वह किस क़दर लाचार है। क्या नमिता की माँ को यह समझाना आसान है कि औरत शरीर और मन के दो स्तरों पर जी तो सकती है, लेकिन यह जीना देर तक सभव नहीं है और इतना आसान भी नहीं है कि 'नियति' कहकर स्वीकार कर लिया जाये? नमिता की माँ इस बात को कैसे समझ सकेंगी कि यह उन सभी लोगों के साथ अन्याय है जो औरत को अपने साथ आधा ही पाते हैं? 'पति को परमेश्वर' मानने वाली किसी भी दास-मनोवृत्ति की स्त्री को यह सब समझाना कितना कठिन और फ़िज़ूल है, इस वात को वह नमिता को कैसे समझाये! और फिर, उसका अपना वर्तमान...!

"तुम्हारी चुप्पी से मुझे डर लग रहा है।" नमिता ने अपना काँपता हुआ हाथ उसके हाथ पर रख दिया और फिर तुरन्त ही छोड़ भी दिया,

आकर बैठ गयीं और दिप-दिप करने लगीं। इसका मतलब है कि उसकी पार्टी इस शहर में भी सक्रिय होगी। चाहे छोटे और कमज़ोर स्तर पर ही हो, पर होगी ज़रूर। ऐसा महसूस कर उसे काफ़ी अच्छा और सुखद लगा और उसने तय किया कि समय मिला तो कल वह अपनी पार्टी का दफ़्तर या लोगों को ढूँढने का प्रयत्न करेगा।

लेकिन यहाँ रहकर नमिता के साथ के अपने सम्बन्धों का वह क्या करेगा? जिस शहर में आदमी के जुकाम की खबर भी बाढ़ आने की खबर की तरह फैल जाती हो उस शहर में रहकर क्या ऐसा मुमकिन है कि वह नमिता को अपनी पत्नी बनाकर एक नयी ज़िन्दगी शुरू कर सके? उसके अपने पिता ने तो उसकी ज़िन्दगी से स्वयं को खींचकर पूरी तरह हटा लिया है, लेकिन नमिता के अक्खड़ और गुस्सैल पिता की ज़िदों और सनकों का वह क्या करेगा? क़स्बाई शहर के उस पारिवारिक सम्मान का वह क्या करेगा जो छींकने और खाँसने से भी आहत हो उठता है? और सम्भव हो तो यह भी नहीं है कि वह इसी शहर में रहे और नमिता के प्रति अपने मन में उठती भावनाओं की तरफ़ पीठ करके ऊँघता रहे।

यही सब सोचते हुए जब उसने घर में क़दम रखा तो पिता को खाट पर बैठकर खाना खाते देखा। एकदम ही, पिता को हरकत में पा उसे अच्छा-सा लगा। चुपचाप जाकर वह उसी खाट के एक कोने पर सिकुड़ कर बैठ गया। पिता उसी तरह खाना खाते रहे, उसकी उपस्थिति से बेखबर और वह सोचता रहा कि वह क्या है जो उसे बड़े-से-बड़े पुलिस-अधिकारी के सामने भी तन कर, बेख़ौफ़ खड़ा रहने की शक्ति देता है, लेकिन पिता के सामने उसके क़द को काट-काट कर तीन फुट का कर देता है? अपराध-बोध! नहीं, अपराध-बोध कैसा? उसने सोचा था और उसके तुरन्त बाद कहीं पढ़ा हुआ एक वाक्य उसकी सोच पर धचाक से लगा—'जो अपनी निजी ज़िम्मेदारियों के प्रति ग़ैरज़िम्मेदार हो वह कला अथवा समाज के प्रति कैसे ज़िम्मेदार हो सकता है?' तभी माँ रसोई से पिता के लिए रोटी लेकर आयी और उसे देखकर बोली, "आ गया। बड़ी देर कर दी?"

"हाँ," उसने यूं ही, बिना किसी उद्देश्य के संक्षिप्त-सा उत्तर दिया

है न, कि दो नावों में सवार होने वाले यात्री को डूबना ही होता है! तो क्या हम भी अन्ततः डूबकर ही रहेंगे ? हम किसी एक नाव का चुनाव नहीं कर सकते क्या ? वह कहना चाहता था...।

तभी थरथराती हुई आवाज़ में निम्मी ने कहा, "विज्जी !" वह सिहर गया । एक तेज़ और ऐंठा हुआ दर्द उसने निम्मी की आवाज़ में एकदम साफ़-साफ़ देख लिया था ।

"विज्जी !" नमिता ने फिर प्रयत्न किया, "तुम...तुम देह को तो नहीं चाहते थे न ?"

उसके दिमाग़ में विना आवाज़ किये एक विस्फोट-सा हुआ और इस विस्फोट को महसूस करने के दूसरे ही क्षण उसने पाया कि वह एक कमज़ोर और भावुक प्रेमी में तब्दील होता जा रहा है। वह समझ गया नमिता कहाँ से बोल रही है। उसने जवाव नहीं दिया, लेकिन नमिता समझ गयी कि विजय ने अपनी चेतना के एक-एक तंतु से कहा है --'नहीं।'

"तो फिर ?" नमिता का साहस अपना क़द निकालने लगा, "तो फिर तुम माँ को क्यों नहीं समझाते कि मैं क्या चाहती रही हूँ और आज भी क्या चाहती हूँ ? क्या इस बार भी तुम अकेले ही दिल्ली लौट जाओगे?" नमिता ने रुक-रुक कर कहा और कहने के वाद आँखें झुका लीं।

वह हैरान रह गया। इसलिए नहीं कि नमिता के मुँह से निकले शब्दों की उसने कल्पना नहीं की थी। वह हैरान था कि वह किस क़दर लाचार है। क्या नमिता की माँ को यह समझाना आसान है कि औरत शरीर और मन के दो स्तरों पर जी तो सकती है, लेकिन यह जीना देर तक सभव नहीं है और इतना आसान भी नहीं है कि 'नियति' कहकर स्वीकार कर लिया जाये ? नमिता की माँ इस बात को कैसे समझ सकेंगी कि यह उन सभी लोगों के साथ अन्याय है जो औरत को अपने साथ आधा ही पाते हैं ? 'पति को परमेश्वर' मानने वाली किसी भी दास-मनोवृत्ति की स्त्री को यह सब समझाना कितना कठिन और फ़िज़ूल है, इस वात को वह नमिता को कैसे समझाये ! और फिर, उसका अपना वर्तमान...!

"तुम्हारी चुप्पी से मुझे डर लग रहा है।" नमिता ने अपना काँपता हुआ हाथ उसके हाथ पर रख दिया और फिर तुरन्त ही छोड़ भी दिया,

जैसे तंद्रा टूट गयी हो।

स्पर्श। चार साल वाद फिर निम्मी का स्पर्श। उसका गला सूखने लगा। यह वह स्पर्श नहीं था जिसकी ऊष्मा तन-मन में एक नशे की तरह छाने लगती है। यह एक डरी हुई, पीड़ित और आहत स्त्री का स्पर्श था जिसकी ठंडक को महसूस कर उसके बदन के रोयें सुन्न पड़ने लगे और वह गले-गले तक एक सावुत ठिठुरन में काँपने लगा।

"तुम जानती हो, मैं आज भी वेकार हूँ।" आख़िर, उसे अपने तर्कों के भीतर लौटना ही सूझ गया।

"हम दोनों मिलकर कमा लेंगे।" नमिता ने उसके चक्रव्यूह को तत्काल ही और वेहिचक ध्वस्त कर दिया। लगा कि आत्मसमर्पण करना पड़ेगा।

"मैं एक ऐसी ज़िन्दगी शुरू कर चुका हूँ निम्मी, जो ख़तरों से घिरी हुई है।" उसने भूमिका-सी वनानी शुरू की।

"सुनो।" अचानक नमिता उठकर खड़ी हो गयी और दृढ़ता से वोली, "एक वात याद रखना कि यह चार साल पहले की शुद्ध भावुक और कमज़ोर निम्मी नहीं है जो आज तुम्हारे सामने वैठी है। यह एक ऐसी पक चुकी औरत है जिसकी छाती को समय का पहिया अपने नुकीले दाँतों से रौंदता और चीथता हुआ गुज़र गया है। यह एक ऐसी औरत है जिसने...," नमिता ने झटके से कहा और वात अधूरी छोड़ दी। माँ कमरे में आ रही थीं। वह भी उठकर खड़ा हो गया और माँ से वोला, "अच्छा चलता हूँ, माँ! कल फिर आऊँगा। उम्मीद तो है कि निम्मी दूसरे विवाह के लिए राज़ी हो जाये।"

"जीते रहो, वेटा! तुम्हारी वात तो यह वचपन से मानती आयी है। कल कव आओगे?" माँ ने प्रसन्न होकर कहा।

"सुवह दस वजे।" उसने वताया और माँ के पैर छूकर वाहर आ गया। छोड़ने के लिए नमिता वाहर तक आयी। विदा होने से पहले उसने सिर्फ़ एक वाक्य कहा, "इसे गाँठ वाँध लेना कि मेरा साथ तुम्हारे लिए सुखद नहीं रहेगा। सोच-समझकर, ठंडे दिमाग़ से निर्णय लेना। मैं कल आ रहा हूँ।"

आकर बैठ गयीं और दिप-दिप करने लगीं। इसका मतलब है कि उसकी पार्टी इस शहर में भी सक्रिय होगी। चाहे छोटे और कमज़ोर स्तर पर ही हो, पर होगी ज़रूर। ऐसा महसूस कर उसे काफ़ी अच्छा और सुखद लगा और उसने तय किया कि समय मिला तो कल वह अपनी पार्टी का दफ़्तर या लोगों को ढूँढने का प्रयत्न करेगा।

लेकिन यहाँ रहकर नमिता के साथ के अपने सम्बन्धों का वह क्या करेगा? जिस शहर में आदमी के जुकाम की ख़बर भी बाढ़ आने की ख़बर की तरह फैल जाती हो उस शहर में रहकर क्या ऐसा मुमकिन है कि वह नमिता को अपनी पत्नी बनाकर एक नयी ज़िन्दगी शुरू कर सके? उसके अपने पिता ने तो उसकी ज़िन्दगी से स्वयं को खींचकर पूरी तरह हटा लिया है, लेकिन नमिता के अक्खड़ और गुस्सैल पिता की ज़िदों और सनकों का वह क्या करेगा? क़स्बाई शहर के उस पारिवारिक सम्मान का वह क्या करेगा जो छींकने और खाँसने से भी आहत हो उठता है? और सम्भव हो तो यह भी नहीं है कि वह इसी शहर में रहे और नमिता के प्रति अपने मन में उठती भावनाओं की तरफ़ पीठ करके ऊँघता रहे।

यही सब सोचते हुए जब उसने घर में क़दम रखा तो पिता को खाट पर बैठकर खाना खाते देखा। एकदम ही, पिता को हरकत में पा उसे अच्छा-सा लगा। चुपचाप जाकर वह उसी खाट के एक कोने पर सिकुड़ कर बैठ गया। पिता उसी तरह खाना खाते रहे, उसकी उपस्थिति से बेखबर और वह सोचता रहा कि वह क्या है जो उसे बड़े-से-बड़े पुलिस-अधिकारी के सामने भी तन कर, बेख़ौफ़ खड़ा रहने की शक्ति देता है, लेकिन पिता के सामने उसके क़द को काट-काट कर तीन फ़ुट का कर देता है? अपराध-बोध! नहीं, अपराध-बोध कैसा? उसने सोचा था और उसके तुरन्त बाद कहीं पढ़ा हुआ एक वाक्य उसकी सोच पर धचाक से लगा—'जो अपनी निजी ज़िम्मेदारियों के प्रति ग़ैरज़िम्मेदार हो वह कला अथवा समाज के प्रति कैसे ज़िम्मेदार हो सकता है?' तभी माँ रसोई से पिता के लिए रोटी लेकर आयी और उसे देखकर बोली, "आ गया। बड़ी देर कर दी?"

"हाँ," उसने यूँ ही, बिना किसी उद्देश्य के संक्षिप्त-सा उत्तर दिया।

आकर बैठ गयीं और दिप-दिप करने लगीं। इसका मतलब है कि उसकी पार्टी इस शहर में भी सक्रिय होगी। चाहे छोटे और कमज़ोर स्तर पर ही हो, पर होगी ज़रूर। ऐसा महसूस कर उसे काफ़ी अच्छा और सुखद लगा और उसने तय किया कि समय मिला तो कल वह अपनी पार्टी का दफ़तर या लोगों को ढूँढने का प्रयत्न करेगा।

लेकिन यहाँ रहकर नमिता के साथ के अपने सम्बन्धों का वह क्या करेगा? जिस शहर में आदमी के जुकाम की खबर भी बाढ़ आने की खबर की तरह फैल जाती हो उस शहर में रहकर क्या ऐसा मुमकिन है कि वह नमिता को अपनी पत्नी बनाकर एक नयी ज़िन्दगी शुरू कर सके? उसके अपने पिता ने तो उसकी ज़िन्दगी से स्वयं को खींचकर पूरी तरह हटा लिया है, लेकिन नमिता के अक्खड़ और गुस्सैल पिता की ज़िदों और सनकों का वह क्या करेगा? क़स्वाई शहर के उस पारिवारिक सम्मान का वह क्या करेगा जो छींकने और खाँसने से भी आहत हो उठता है? और सम्भव हो तो यह भी नहीं है कि वह इसी शहर में रहे और नमिता के प्रति अपने मन में उठती भावनाओं की तरफ़ पीठ करके ऊँघता रहे।

यही सब सोचते हुए जब उसने घर में क़दम रखा तो पिता को खाट पर बैठकर खाना खाते देखा। एकदम ही, पिता को हरकत में पा उसे अच्छा-सा लगा। चुपचाप जाकर वह उसी खाट के एक कोने पर सिकुड़ कर बैठ गया। पिता उसी तरह खाना खाते रहे, उसकी उपस्थिति से बेखबर और वह सोचता रहा कि वह क्या है जो उसे बड़े-से-बड़े पुलिस-अधिकारी के सामने भी तन कर, बेखौफ़ खड़ा रहने की शक्ति देता है, लेकिन पिता के सामने उसके क़द को काट-काट कर तीन फुट का कर देता है? अपराध-बोध! नहीं, अपराध-बोध कैसा? उसने सोचा था और उसके तुरन्त बाद कहीं पढ़ा हुआ एक वाक्य उसकी सोच पर धचाके से लगा—'जो अपनी निजी जिम्मेदारियों के प्रति ग़ैरजिम्मेदार हो वह कला अथवा समाज के प्रति कैसे जिम्मेदार हो सकता है?' तभी माँ रसोई से पिता के लिए रोटी लेकर आयी और उसे देखकर बोली, "आ गया। बड़ी देर कर दी?"

"हाँ," उसने यूँ ही, बिना किसी उद्देश्य के संक्षिप्त-सा उत्तर दिया

लेकिन पिता को खांसी आ गयी और उन्होंने अपनी तेज़ खांसी के बीच आग्नेय नेत्रों से उसे घूर कर देखा, फिर खाट के नीचे रखे पानी के गिलास से दो घूंट पानी पिया और गिलास वापस वहीं रख दिया।

"तुम एक कमरा किराये पर क्यों नहीं चढ़ा देतीं?" उसने सहसा ही माँ से एक सवाल किया और जवाब पिता ने दिया, "शरीफ़ घरों में सारे फ़ैसले घर का मुखिया करता है।"

उसे क्रोध नहीं आया। पिता की अकड़ को क़ायम देख उसे प्रसन्नता ही हुई। निर्मल भाई ने एक बार उससे कहा था—'आदमी के भीतर एक ठसक होती है, ख़ुद्दारी होती है, जो लगातार जीवित रखनी पड़ती है। जो लोग इस ख़ुद्दारी को जिलाये रखते हैं वही सही मायने में आदमी कहलाते हैं और जो लोग इस ख़ुद्दारी को ख़ुद्दारी रौंदने वाली सत्ता के विरुद्ध तान देते हैं वे महान आदमी के प्रतीक रूप में हमेशा जीवित रहते हैं। हमारी लड़ाई यही तो है न कि आदमी को पूरे सम्मान और स्वाभिमान के साथ ज़िंदा रहने का हक़ है, जब कि यही चीज़ उससे छीन ली गयी है!"

तभी उसने देखा, माँ रसोई के पास खड़ी उसे इशारे से बुला रही है। वह खड़ा हो गया और माँ की तरफ़ चल पड़ा।

"बेटे, अपने पिता की बातों का बुरा मत मानना। बहुत दुख उठाये हैं उन्होंने इस जीवन में। दिमाग़ सनक गया है।"

उसने माँ के कंधे पर हाथ रख दिया और अपने होंठ काटने लगा। फिर नरम स्वर में बोला, "एक कमरा ख़ाली ही पड़ा रहता है न, कोई आ जाये तो पैसा भी मिलेगा और सहारा भी हो जायेगा। मैंने तो यही सोचकर कहा था।"

"इस पहली से आ रहा है एक आदमी। उन्होंने ही रखा है। पिचहत्तर रुपये महीने पर। इनके दफ़्तर में चपरासी था, अकेला है। पैसे के लिए नहीं, सहारे के लिए ही रखा है। बहुत इज़्ज़त करता है इनकी।" माँ ने धीमी, लेकिन स्पष्ट आवाज़ में उसे सूचित किया और वह फिर से आँगन में आ टहलने लगा।

खाना खाने के बाद पिता ने थाली में ही हाथ धो लिये और खाट की बाही से दोनों हाथ रगड़-रगड़ कर पोंछ लिये। फिर उन्होंने एक मरियल-

सी डकार ली और कमीज़ के बटन खोलने लगे। वह पिता के सामने की जूठी थाली उठाने के लिए झुका और तभी दो बातें एक साथ हुईं। पिता की आँखें उसकी आँखों से टकरायीं, फिर अपनी बनियान पर गयीं, जिसमें मुहावरे की भाषा में बहत्तर छेद थे। तुरंत उन्होंने अपनी कमीज़ फिर से पहन ली और कमीज़ के बटन तेज़ी से बंद करने लगे।

सर्द रात में, नंगे बदन पर जैसे एक कोड़ा सड़ाक से पड़ा हो। उसके दिल में दूर तक दर्द की एक लकीर खिचती चली गयी। उसे याद आया, तब वह इंटर में था। पिता एक शाम उसके लिए पैंट और बिट्टू के लिए कमीज़ का कपड़ा लाये थे। दोनों को ज़रूरत भी थी। उसके पास एक पैंट और दो कमीज़ें रह गयी थीं जबकि बिट्टू के पास दो पैंट तथा एक कमीज़ थी।

वे काफ़ी तंगहाली के दिन थे।

वैसे तंगहाली तो उनके पूरे जीवन में ही व्याप्त थी।

वे दिन कुछ ज़्यादा ही कठिन और कष्टसाध्य थे। ऐसे में बिट्टू और उसे अपने लिए कपड़े पाकर कितनी प्रसन्नता हुई थी, यह बताने के लिए शब्द छोटे हैं। पिता के चेहरे पर एक संतोष आकर बैठ गया था और वे लुंगी तथा बनियान पहनकर आँगन में टहलते हुए बता रहे थे कि यह कपड़ा लाने के लिए उन्होंने किस तरह पिछले पाँच महीने से तीस रुपया महीना बैंक में जमा किया था। वह पिता के स्नेह और प्यार के आगे श्रद्धानत हो गया था और इस चिंता में डूब गया था कि अब कपड़ों की सिलाई के लिए कितने दिन अथवा महीनों का इंतज़ार करना पड़ेगा! पिता की बनियान में तब भी कई छेद थे और उनके पास जो दूसरी बनियान थी उसकी हालत भी काफ़ी शोचनीय थी। उसने अचानक पिता को टोककर कहा था, 'पाँच रुपये की एक बनियान नहीं ला सकते थे आप?'

उसके स्वर में पता नहीं क्या था कि एक पल के लिए पिता ठिठक गये, फिर ठहाका लगाते हुए बोले, 'इस बनियान के छेद ज़िंदगी-भर तुम लोगों का पीछा करते रहेंगे और तुम्हें याद दिलाते रहेंगे कि तुम्हारा बाप कितना महान था।' उन्होंने अपनी पीठ को अपने ही हाथ से थपथपाते हुए कहा था, 'इस बनियान के छेद ही तो हम दोनों को बुढ़ापे में अकेला

पड़ने से बचायेंगे।' उन्होंने माँ के कंधे पर हाथ रख दिया था और बोले थे, 'वरना तो आजकल के लड़के जैसे ही काम-धाम से लगे, माँ-बाप को छोड़कर भाग खड़े होते हैं।'

'जिनके लड़के माँ-बाप को छोड़ देते हैं उनके माँ-बाप में ही कोई खोट होता होगा,' माँ भी मुसकरायी थी, 'हमारे विज्जी और विट्टू तो हीरा हैं, हीरा।'

तब माँ-बाप की इस उमगती हुई प्रसन्नता और सहज कल्पना पर वे दोनों भी खुलकर खिलखिलाये थे, और ठीक-ठीक याद है कि उसने कहा था, 'अपनी पहली तंख्वाह से मैं आपके लिए एक दर्जन बनियान खरीद कर लाऊँगा।'

'और मैं डेढ़ दर्जन,' बिट्टू भी पीछे नहीं रहा था, 'ताकि बाउजी रोज़ एक नयी बनियान पहन सकें।'

'देखते हैं, समय क्या दिखाता है,' हँसते हुए पिता अचानक गंभीर हो गये थे और खिल-खिल करता वह छोटा-सा घर-आँगन यक-ब-यक उदासी में घिरकर काँपने लगा था। पिता ने एक ठंडी साँस लेते हुए धीरे से कहा था, 'अभी तो डेढ़ दर्जन छेदों वाली बनियान ही किस्मत में लिखी है।' और इतना कहकर वे खाट पर बैठ गये थे। ऐसे जैसे लड़खड़ा कर गिरे हों।

तब वे दोनों पढ़ रहे थे और तब पिता अपनी छेदों वाली बनियान पहनकर ठाठ से आँगन में टहला करते थे। जब वह ग्रेजुएट हो गया और नौकरी ढूँढ़ने लगा तब भी पिता के उस ठाठ से घूमने में कोई कमी नहीं आयी थी, लेकिन आज...! वह सिहर गया। पिता ने अपनी बनियान के छेदों को उसके सामने प्रदर्शित करने से रोक लिया था। अपनी ग़रीबी को उन्होंने अपने बेटे से छिपाने की कोशिश की थी।

रिश्तों में आ गये इस भयावह फ़र्क को देख उसकी कनपटी साँय-साँय करने लगी थी। यातना के कितने चक्करदार, अँधेरे रास्तों से गुज़र कर उम्र की इस दहलीज पर खड़े लहूलुहान पिता ने आखिर किस तरह अपने लिए एक अटूट और अभेद्य खामोशी चुनी होगी! इस चुप्पी को हासिल करने के लिए उन्हें अपने भीतर कितना अधिक चीखना और रोना पड़ा

होगा !

बरतन उठा कर उसने हैंडपंप के पास रख दिये थे और अभी तक वहीं खड़ा था कि माँ ने खाना खा लेने के लिए आवाज़ दी। पिता चारपाई पर लेट गये थे और आसमान में खो गये थे। वह रसोई में माँ के पास पटरे पर बैठ गया और गरदन झुकाकर आहिस्ता से बोला, "कल शाम की बस से जाऊँगा मैं।" माँ चमचे से कटोरी में दाल डाल रही थी, जो कटोरी में न जाकर ज़मीन पर गिर पड़ी। माँ का हाथ काँप गया था। कोई भी जवाब न देकर वह चुपचाप खाना परोसती रही। दाल और रोटी। बस। कभी इस घर में घोर ग़रीबी के बावजूद अकेली दाल कभी नहीं बनती थी। पिता की आदतें बड़ी विचित्र थीं। वे कहा करते थे : 'या हंसा मोती चुगें या फिर करें उपास (उपवास)।' और घर में या तो अच्छा खाना बनता था या नहीं बनता था। चने और गुड़ खाकर सब लोग सो जाते थे। सबका मतलब—पिता के अलावा बाक़ी सब। पिता का एकमात्र शौक था, अच्छा खाना। सनकीपने की हद तक पहुँचा हुआ शौक। उनका मानना था कि खाने के लिए ही तो सारा संघर्ष है।

"घर में मीट कब से नहीं बना ?" उसने अचानक माँ से पूछ लिया।

"मीट ?" माँ बुरी तरह चौंक गयी, फिर सहज होकर बोली, "ग़रीब तीन बरस से। क्यों ?"

"कल मीट बनायेंगे।"

"पर तेरे पिताजी ने मीट, मछली और अंडा खाना छोड़ दिया है। दाल, रोटी और खिचड़ी के अलावा चौथी कोई चीज़ नहीं खाते।"

"भरवाँ करेले, दम आलू, भरवाँ टिंडे, मटर पनीर और आलू टमाटर भी नहीं ?" उसने माँ की तरफ़ आश्चर्य से देखा और तुरंत ही अपनी जबान काट ली। अपने सवाल से माँ के चेहरे पर उभरे आश्चर्य को देख वह लज्जित हो आया।

"मेरा मतलब था कि अगर इनमें से कोई चीज़ कल बनायी जाये तो...?"

"नहीं खायेंगे।" माँ ने उसके सवाल को बीच में ही काट कर झुंझलाहट से जवाब दिया। और वह यह नहीं समझ सका कि 'नहीं खायेंगे'

पिता की तरफ़ से कहा गया है, या इसमें माँ भी शामिल है ? पर उसने हिम्मत नहीं छोड़ी और धीरे से बोला, "सोच रहा था कि कल पिताजी के लिए दो-एक बनियानें ले आऊँ !"

"नहीं ।" माँ ने अपने भीतर उमड़ते दर्द को होंठों से भींचकर रोकने की कोशिश की, फिर विनती जैसे लहजे में बोली, "ऐसा कोई काम मत करना कि तुम्हारे पिता मुझसे भी बात करना बंद कर दें। अगर ऐसा हुआ तो हममें से कोई भी नहीं जी पायेगा। बहुत अकेले हैं वो। इतने कि इससे ज़्यादा अकेला करना पाप होगा उन्हें।"

वह और नहीं खा सका। पानी पीकर उठ गया और कमरे में जाकर खाट पर बैठ गया। उसे अचानक ही लगा कि उसने यहाँ आकर ठीक नहीं किया। वह नहीं जानता था कि स्थितियों ने उसे नायक से रिड्यूस करके खलनायक बना डाला है। वह यह भी अनुमान नहीं लगा सका था कि स्थितियाँ इतनी जटिल और भयावह हो चुकी होंगी। पता होता या आभास भी होता तो वह यहाँ नहीं आता। निश्चित रूप से उसका यहाँ आना पिता को और अधिक अकेला कर देने के मक़सद से नहीं था। वह तो उनका अकेलापन बाँटने के लिए यहाँ आया था, उनके अकेलेपन में सेंध लगाने आया था। लेकिन अब इतनी आसानी से वापस लौट जाना संभव होगा क्या ? नहीं, वापस तो जाना ही होगा, उसने सोचा और उसे निर्मल भाई की याद आ गयी।

निर्मल भाई—हारे हुए आदमी की आख़िरी आशा। टूटती हुई आस्था का अंतिम टुकड़ा और अँधेरे, सीलन-भरे, तंग तहखाने में टिमटिमाती हुई मोमबत्ती। शायद यह सब अच्छे विशेषण नहीं हैं, उसने सोचा, लेकिन इतना तय है कि निर्मल भाई से किये हुए वायदे को तोड़ देना किसी के लिए भी बहुत आसान नहीं है। और उसके लिए तो यह नामुमकिन क़िस्म की ही चीज़ है। हाँ, उसने वादा किया था कि वह लड़ेगा—उम्र के आख़िर पायदान तक और साँस के अंतिम चरण तक लड़ेगा। उस समय निर्मल भाई की उस छोटी-सी कोठरी में उनकी पत्नी सहित आठ लोग थे। रात के दस बजे थे और निर्मल भाई से उसका परिचय हुए पूरे दस महीने बीत चुके थे। लड़ाई, कामरेड, होलटाइमर, क्लास

एनिमी, क्लास स्ट्रगल, सर्वहारा, रिवोल्यूशन, कार्ल मार्क्स, गुरु गोलवलकर, लेनिन, आर० एस० एस०, माओत्से तुंग, जे० पी०, साम्राज्यवाद, दलाल, नौकरशाह, पूँजीवाद, इंदिरा गांधी, ब्रेझनेव, ई० एम० एस० नंबूदिरीपाद, राजेश्वर राव, चारू मजूमदार, डाँगे, एस० एन० सिंह, चे ग्वेवारा, अटलबिहारी वाजपेयी, कानु सान्याल, निकोलाई आस्त्रोवस्की, जूलियस फ़्यूचिक, गोर्की, स्टालिन, भगवान रजनीश, भगतसिंह, तेलंगाना, नक्सलवाड़ी, ज्योति बसु, विनोबा भावे, राजसत्ता, अक्तूबर क्रांति, पैटी-बुर्जुआ, उपनिवेशवाद, यातना, दमन; कुर्बानी, हौसला, विचारधारा, जेल, नफ़रत, फाँसी, पार्टी, ज़ुल्म, लाचारी, आत्मा, दुख, संघर्ष और पलायन जैसे नाम और शब्द उसके लिए किसी तिलिस्मी दुनिया की तरफ़ खुलने वाले रहस्यमय झरोखे नहीं रह गये थे। वह इन नामों और शब्दों के अर्थ और फ़र्क को काफ़ी-कुछ समझने और जानने लगा था और लगातार जान रहा था— निर्मल भाई से, निर्मल भाई की पत्नी से, निर्मल भाई के साथियों से और अपने खुद के अध्ययन और अनुभव से। उन दिनों वह एक सिलाई मशीन की कंपनी में चार सौ रुपये महीने पर हाज़िरी-क्लर्क था और निर्मल भाई के बग़लवाली एक कोठरी में सौ रुपये महीने किराये पर रहता था। जिस रात आठ आदमियों के सामने उसने निर्मल भाई से ताउम्र लड़ने का वायदा किया था उस दिन सिलाई मशीन की कंपनी के मैनेजर ने उसे कुछ मज़दूरों के बीच कम्युनिस्ट लिटरेचर बाँटने और कंपनी में खड़ी नयी यूनियन का प्रचार करने के आरोप में नौकरी से निकाल दिया था। यह नयी यूनियन निर्मल भाई ने खड़ी की थी।

"तो क्या सोचा ?" निर्मल भाई ने पूछा था।

"जैसा आप कहें ।" उसने तपाक से जवाब दिया था और सोचा था कि अपनी समझ से इससे सही जवाब क्या हो सकता है, लेकिन इस जवाब के कारण उसे एक लंबा उपदेश मिल गया था। उसके होंठों पर मुसकान तैर आयी। 'देखो, एक बात समझ लो।' निर्मल भाई ने उसके जवाब को सुन कुछ-कुछ अप्रसन्नता के लहजे में कहा था—'क्रांतिकारी लोग व्यक्ति या दल में उसी सीमा तक आस्था रखते हैं जब तक कोई व्यक्ति या दल

क्रांति के रास्ते पर चल रहा होता है। तुम्हें मेरा नहीं, दल का आदेश मानना है, लेकिन यहाँ भी मैं तुम्हें एक बारीक बात समझा दूं। हम लोगों के बीच एक बड़ी पुरानी कहावत प्रचलित है—नो बडी इज़ ग्रेटर दैन पार्टी। यह सिद्धांत सोलहो आने दुरुस्त है, लेकिन मेरा निजी ख़याल है कि नो बडी इज़ ग्रेटर दैन रिवोल्यूशन। यानी दल भी उसी सीमा तक जब तक वह क्रांतिकारी है, क्रांति के लिए है। क्रांतियां आदेशों से नही होतीं। कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की ज़िम्मेदारी कैसे ले सकता है? मैं आदेश देने वाला तुम्हें कौन होता हूँ? कल मैं बदल भी सकता हूँ। आज मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम सब-कुछ छोड़कर क्रांति के लिए काम करो और चूंकि तुम्हारी आस्था मुझमें है, इसलिए तुम करने भी लगोगे। लेकिन कल यदि मैं तुमसे कहूँ कि क्रांति के विरोध में काम करो, तब?'

'अरे नहीं!' वह हड़बड़ा गया और संकुचित-सा बोला, 'आप ऐसा नहीं कह सकते।'

'क्यों नहीं कह सकता?' निर्मल भाई ने सहज लहजे में झटके से उसकी बात को झपट लिया, 'कोई भी, कभी भी, कुछ भी कर या कह सकता है। मूर्खों की तरह बात मत करो और अब तुम्हें क्या करना है, इसकी ज़िम्मेदारी मुझ पर मत डालो। व्यक्तिगत रिश्तों का हमारे लिए एक सीमा तक ही महत्व है, उसके बाद नहीं। क्रांति के विरुद्ध और क्रांति से बड़ा कोई रिश्ता हम नहीं मानते। तुम्हारे चमड़े से मुझे कोई प्यार नहीं है। चमड़े के भीतर मानवीयता के लिए धड़कते दिल से ही प्यार किया जा सकता है। कुछ फ़र्ज़ होते हैं, उनसे विमुख होने की सलाह नहीं दे रहा हूँ, लेकिन क्रांति से बड़ा कोई फ़र्ज़ मैं नहीं मानता। दुनिया का कोई भी रिश्ता यदि क्रांति के रास्ते में बाधा बनता है तो उस रिश्ते से इनकार। इतना बड़ा हौसला हो तुम्हारे पास तो पार्टी के होलटाइमर के रूप में तुम्हारा स्वागत है। और न हो तो तुम्हारे लिए कोई दूसरी नौकरी तलाश कर देते हैं। कोई ज़रूरी नहीं है कि क्रांति को सहयोग देने के लिए होलटाइमर ही बना जाये। जो जहाँ है, जिस सीमा के भीतर है, वहीं रह कर भी काम कर सकता है। हमारे लिए तो उन लोगों का भी महत्व है जो क़तई सक्रिय नहीं हैं और केवल हमदर्द हैं

हमारे। लेकिन होलटाइमर...!' निर्मल भाई रुके और सिगरेट सुलगाने लगे। कोठरी में सन्नाटा सिर उठाने लगा। उसका उलट-पुलट होता दिमाग़ यक-ब-यक एकदम स्थिर हो आया और अब तक आदमक़द हो आये कोठरी के सन्नाटे को अपनी अपेक्षाकृत भारी आवाज़ से भंग करते हुए उसने निर्मल भाई को फिर शुरू होने का मौक़ा दिये बग़ैर कहा, 'होलटाइमर मतलब, पेशेवर क्रांतिकारी ही न! जिसका पेशा ही क्रांति हो। मैं वायदा करता हूँ कि विजय अपने नाम पर कलंक नहीं लगने देगा।'

'गुड।' अचानक निर्मल भाई की पत्नी उठीं और उसके माथे पर एक गहरा चुंबन जड़ते हुए बोलीं, 'सच, विज्जी, हमें एक होलटाइमर की बड़ी सख़्त ज़रूरत थी, जो निर्मल जी का काम संभाल सके।'

निर्मल भाई की पत्नी की आवाज़ में उसके प्रति जो कृतज्ञता जैसा भाव था उसे महसूस कर वह भावुक हो आया और उसे लगा कि वह अभी रो पड़ेगा। अपने पर क़ाबू पाते हुए उसने पूछा, 'निर्मल भाई का काम?'

'हाँ।' जवाब निर्मल भाई ने स्वयं दिया, 'पार्टी का आदेश है कि मैं फ़रीदाबाद जाकर काम करूँ। वहाँ पार्टी बहुत कमज़ोर है और होलटाइमर तो एक भी नहीं है जब कि इतनी बड़ी इंडस्ट्रियल बैल्ट में कम-से-कम आधा दर्जन होलटाइमर होने चाहिए थे।'

'लेकिन यहाँ क्या होगा?' उसे यह ख़याल ही बड़ा अजीब लग रहा था कि उसे निर्मल भाई की ज़िम्मेदारियाँ सम्भालनी हैं।

'क्यों, तुम हो न!' निर्मल भाई मुसकराये, 'तुम हो, नीलम है।' उन्होंने अपनी पत्नी का सिर सहलाया, फिर बाक़ी लोगों की तरफ़ मुख़ातिब होकर बोले, 'ये लोग हैं और अपने तीन बहादुर तो आये ही नहीं, वो हैं। दिल्ली के पास पाँच होलटाइमर, पाँच यूनियनें और डेढ़ सौ पार्टी-मेम्बर हैं। फिर, दिल्ली का नम्बर तो सबसे अन्त में आयेगा।' निर्मल भाई ने ठहाका लगाया, 'तुम क्या सोचते हो, लालक़िले पर केवल दिल्ली का मज़दूर लाल झंडा फहरा देगा। लालकिले पर लाल निशान फहराने के लिए पूरे मुल्क के किसानों और मजदूरों को दिल्ली लाना पड़ेगा, कामरेड!'

कामरेड ! उसकी आँखें नम हो आयीं। आठ महीने के परिचय में निर्मल भाई ने पहली बार उसे कामरेड कहकर पुकारा था।

वह खाट से उठ खड़ा हुआ और हैंडपम्प पर जाकर पानी पी आया। गला सूखने लगा था। आँगन में अँधेरा था। पिता सम्भवतः सो गये थे और पिता के बग़ल में पड़ी खाट पर माँ भी सो गयी थी। सिर्फ़ वह जाग रहा था और सोच रहा था, ज़िन्दगी के रास्ते इतने चक्करदार, फिसलन-भरे और काँटेदार क्यों होते हैं ? फिसल कर गिरे और काँटों से पूरा वदन लहूलुहान कर लिया। फिर खड़े हुए और फिर गिरे। फिर उठे और...।

नहीं, अव नहीं गिरेगा वह, उसने सोचा और कमरे में आ गया। उसे पता नहीं चला और कमरे में उसके साथ-साथ नमिता भी आ गयी। जैसे ही वह खाट पर बैठा और नमिता ने उसकी चेतना को स्पर्श किया, वह फिर खड़ा हो गया। निर्मल की पत्नी भी तो हैं, उसने सोचा, नमिता को लड़ाई के मोर्चे पर क्यों नहीं उतारा जा सकता ? खैर, इतना तो तय है कि जाना तो उसे पड़ेगा ही। वह आज इतनी दूर निकल गया है कि लौटना भी चाहे तो नहीं लौट सकता। इतने सारे लोगों की आस्था उसके साथ ही जी रही है कि वह मरना भी चाहे तो नहीं मर सकता। निर्मल भाई ने फ़रीदावाद में अपना वहुत स्ट्रांग मास-वेस वना लिया है। जिस फ़रीदावाद में कभी पार्टी का केवल एक सदस्य और आठ-दस समर्थक हुआ करते थे, वहाँ आज पार्टी की सदस्य-संख्या लगभग सौ पर पहुँच गयी है और निर्मल भाई के अलावा दो होलटाइमर भी हैं। पिछले ही साल पार्टी की ट्रेड यूनियन के नेतृत्व में एक वहुत वड़ी सफल हड़ताल की जा चुकी है। आज उस शहर की एक चौथाई फ़ैक्ट्रियों में पार्टी की यूनियन का झंडा गड़ा हुआ है। देश-भर में जे० पी० आन्दोलन उठान पर है। अभी हाल ही में देश-भर के क़रीव दस लाख लोगों का जो प्रदर्शन दिल्ली में हुआ उसमें पार्टी के नेतृत्व में अकेले फ़रीदावाद से दो हज़ार लोगों ने भाग लिया। दिल्ली में भी काम वढ़ा ही है। जिस सिलाई मशीन की कम्पनी से एक दिन उसे निकाल दिया गया था आज उसी कम्पनी की यूनियन का वह सर्वोच्च नेता है। दो वार जेल जा चुका है और आजकल

दिल्ली की होटल मजदूर यूनियन में पार्टी की जड़ें मज़बूत करने में लगा हुआ है। सरकार के जासूस उसकी निगरानी करते घूमते हैं।

इतना आगे आकर क्या वह व्यक्तिगत जिन्दगी के सुख की खातिर वापस लौट सकता है? यक़ीनन नहीं। यह वापसी अब उसके अपने वश में नहीं रह गयी है। चार अक्षरों का एक शब्द 'हड़ताल' उसके मुंह से निकलते ही मशीनों के चक्के जाम हो जाते हों और सैकड़ों लोग अपने औज़ार फेंक कर उठ खड़े होते हों, ऐसे में पीछे लौटना कठिन नहीं, एक असम्भव कल्पना है। इतने ज्यादा लोगों के विश्वास निश्चित रूप से नहीं तोड़े जा सकते। अब सवाल अकेले विमल भाई के साथ गद्दारी करने का नहीं, अपनी खुद की आस्थाओं के साथ दगा करने का है। एक दुनिया, जो उसे जीने के लिए मिली थी, और जिससे मुक्त होकर उसने अपनी दूसरी दुनिया खड़ी की है, अब सवाल उस दूसरी दुनिया के साथ दगा करने और पुरानी, सड़ी हुई, मरणासन्न और असहनीय दुनिया में लौट जाने का है। और यह उससे हो नहीं सकेगा अब। अब सवाल अपने बेटे से नाराज़ एक पिता को मनाने का नहीं, अपने दुश्मनों के प्रति हिकारती नफ़रत से झुलसते लोगों के क्रोध को आकार देने का है।

नहीं, नमिता नहीं। उसने सीधी आवाज़ में सोचा। अब यह सम्भव नहीं रहा कि दर्जा पांच से तुम्हारे साथ पढ़ने वाला, तुम्हें चाहने वाला विज्जी तुम्हारी गोद में सिर छुपाकर सब-कुछ भूल जाये। वो ज़माने गये निम्मी, जब प्रेम का ठाठें मारता समंदर अपने भीतर सब-कुछ समा लेता था। आज तो उस समन्दर की पछाड़ खाती लहरों को याद-भर ही किया जा सकता है, उनमें डूबा-उतराया नहीं जा सकता। तब के उस विज्जी और उसकी निम्मी और उसके प्यार की सार्थकता आज विजय की इस दूसरी दुनिया में ही निहित है, इससे जुदा होकर नहीं। यह दुखों, अभावों, लाठियों, गोलियों और अनथक संघर्ष से लबालब भरा हुआ जीवन तुम्हें कभी भी विचलित न कर सके तो विज्जी अब भी पीछे नहीं हटेगा। इस विज्जी ने कभी भी अपनी निम्मी की 'देह' को प्यार नहीं किया। और शायद तुमने भी अपने विज्जी को सम्पूर्णता में ही चाहा है। है न! तो?

देने वाली आवाज़ में जवाब दिया और उसके हाथ में हथकड़ी पहनाते हुए नमिता की तरफ़ देखकर बोला, "ये...?"

"मेरी पत्नी।" उसने जवाब दिया और नमिता को देखा, जिसकी आँखें फटी पड़ रही थीं।

"ओह !" अचानक उसके मुंह से निकला और उसके होंठ गोल हो गये, फिर चेहरे को ढीला छोड़ उसने सहजता और नम्रता से कहा, "तुम्हें वापस जाना होगा, निम्मी ! लगता है, वही हुआ है जिसकी भविष्यवाणी निर्मल भाई ने कुछ दिन पहले की थी। मेरी जेब से पर्स निकाल लो। और सुनो, घबराना मत। मैं फिर आऊँगा।"

"यह कहीं नहीं जायेगी।" इंस्पेटर ने अचानक उसके मुंह पर झापड़ मार दिया और जब तक वह चौंकता तब तक बाक़ी पुलिस वालों ने नमिता को भी हथकड़ी पहना दी। इसके बाद वह गुस्से में बौखलाता रहा और पुलिस वालों ने उन दोनों को लगभग घसीटते हुए ले जाकर पुलिस-वैन में पटक दिया।

सन्नाटा ज्यों का त्यों था और कॉलोनी के एक भी घर का दरवाज़ा अभी तक नहीं खुला था। पुलिस-वैन स्टार्ट हो गयी थी। वे दोनों वैन की ज़मीन पर पड़े थे और उनके दोनों तरफ़ पुलिस के सिपाही बन्दूकों की नाल पर उँगलियाँ टिकाये चौकन्ने बैठे थे। उसने लेटे-लेटे नमिता को देखा। नमिता भी उसे ही देख रही थी। वह मुसकरा दिया। नमिता भी मुसकरा पड़ी।

"हँसो मत !" एक पुलिस वाले ने चीखकर कहा और दोनों की कमर पर बन्दूक का हत्था ज़ोर से खींच मारा।

यह सन् 1975 की बात है। महीना जून का था और तारीख थी—छब्बीस।

] □



उपस्थित है वह एक ओर कहानी के संवेग और उसकी गति की तीव्रता के रूप में परिवर्तित होता है, दूसरी ओर वह कहानी को किसी "कनफ़ेशन" जैसी निष्कपट आत्मीय ऊष्मा भी देता है।

यह निष्कपट बखान और रागात्मक संबद्धता समीक्षकों को भावुक या रोमैंटिक भी लग सकती है और कहानियों के पात्रों में चारित्रिक-वैचारिक दुर्बलता के रूप में भी नज़र आ सकती है, लेकिन 'नेरेटिव' की यही साहसिकता धीरेन्द्र के पात्रों को वैसी कहानियों के बाहर भी खड़ा करती है जिनमें 'संघर्षवादी' और बड़बोले पात्रों की भरमार है।

अगर गंभीरता और अनिवार्य सहानुभूति के साथ धीरेन्द्र अस्थाना की कहानियों को देखें तो समकालीन कहानी-लेखन में अकसर ग़ैरमौजूद या दुर्लभ एक दूसरी विशेषता उनमें और दिखायी देगी—यानी चेतना, भाव-जगत या अंतर्मन के अंतर्द्वंद्वों और जटिल संकटों का बाह्य प्रत्यक्षीकरण। 'भूत' और 'पतनबोध' जैसी कहानियों से व्यक्ति के अंतर्जगत की सारी अमूर्त लेकिन त्रासद टकराहटें बाह्य जगत में ठोस, साकार और मूर्त रूप में उपस्थित होती दिखती हैं। एक ज़रा-सी चूक के चलते कोई भी दूसरा कहानीकार जहाँ ऐसे विषय और ऐसी स्थिति में 'मनोविश्लेषणवादी कहानीकार' होने की गर्त में गिर सकता था, वहाँ धीरेन्द्र अस्थाना एक तटस्थ निर्ममता और निर्वेग संयम के साथ अपने भीतरी संसार के समूचे अंतर्द्वंद्वों के बखान के लिए बाहरी दुनिया में उसका समरूप प्रतिसंसार तलाशते हैं। ऐसे 'को-रिलेटिव' को अर्जित करना समकालीन कहानी-लेखन के क्षेत्र में रचनात्मक उपलब्धि मानी जानी चाहिए।

—उदय प्रकाश